थ्योडोर गोल्डस्टूकर

हिन्दुओं की प्रबुद्ध रचनाएँ

अनुवादिका

सुश्री रमा शास्त्री

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

२६

हिन्दुओं की प्रबुद्ध रचनाएँ

लेखक –

थ्योडोर गोल्डस्टूकर

अनुवादिका –

काव्यतीर्थ

सुश्री रमा शास्त्री, एम्० ए०

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

वि० सं० २०१७] [ई० सन् १९६०

प्रकाशक— चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक— विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
प्रथम प्रकाशन, वि० संवत् २०१७
मूल्य रु० ४—००

सर्वाधिकार सुरक्षित

The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi.
(INDIA)
1960

प्राक्कथन

विश्व-साहित्य में संस्कृत वाङ्मय सर्वप्राचीन तथा अत्यन्त व्यापक साहित्य है। इसमें समस्त ज्ञान एवं विज्ञान का मूल स्रोत उपलब्ध होता है। संस्कृतभाषा ही आधुनिक भाषा-विज्ञान की आधारशिला है जिसका विन्यास पाश्चात्त्य देश के संस्कृतज्ञ विद्वानों ने आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व किया। पश्चिम भूभाग के विद्वानों के अध्यवसाय के फलस्वरूप संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में एक नवीन प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। संस्कृत साहित्य के अनुशीलन की प्राचीन परम्परा शास्त्रार्थ के तलस्पर्शी ज्ञान के सम्पादन की ओर लक्ष्य रखती थी, परन्तु पाश्चात्त्य परिपाटी ने ऐतिहासिक अन्वेषण तथा भाषा-विकास के विभिन्न स्तरों का तुलनात्मक अध्ययन ही अपना प्रमुख ध्येय रखा। इस प्रगति का परिणाम यह हुआ कि आज के युग में संस्कृत साहित्य की पठन-पाठन परिपाटी की दो धारायें चल पड़ी हैं—एक, वह पारम्परिक (traditional) पद्धति है जिसमें प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त करने के हेतु शिक्षार्थी मूलग्रन्थ, उन पर आचार्यों द्वारा प्रणीत भाष्य, उपस्कार तथा वृत्तियों तक का कण्ठस्थ अध्ययन कर पूर्वपक्ष और सिद्धान्तों की कोटियों को करतलामलक-वत् ग्रहण करते एवं शास्त्रार्थ में निष्णात होते हैं; दूसरी, वह वैज्ञानिक (scientific) पद्धति है जिसमें अध्येता प्रतिपाद्य विषय के सर्वेक्षण के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से समाज एवं उसकी सभ्यता की प्रगति की दिशा में अनुसन्धान कर व्यापक रूप से साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। इन दोनों पद्धतियों के अपने-अपने गुण हैं : प्राचीन परम्परा यदि शास्त्र में प्रौढ़ व्युत्पत्ति उत्पन्न करती है,

तो नव्य परम्परा पुरातन इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ने में सहायता देती है; पूर्व परम्परा से यदि सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है तो नव्य परम्परा से ज्ञान की व्यापकता सम्पादित होती है; पहली पद्धति यदि शास्त्रमहोदधि में लम्ब की भाँति तलपर्यन्त सरल (vertical) प्रवेश कराती है, तो दूसरी पद्धति आस-पास के पूर्ण परिसर का परिचय देती हुई उस अगाध महोदधि में सार्वभौम समतल (horizontal) सञ्चार कराती है—यों दोनों पद्धतियाँ, वास्तव में, एक दूसरी की पूरक होकर पुरातन भारतीय ज्ञान-विज्ञान के निगूढ़ अनर्घ भाण्डागार को खोलकर रख देनेवाली दो प्रशस्त तालिकाएँ हैं। पहिली तालिका के आरची यास्क-सायण-प्रभृति हमारे प्राचीन ऋषिमुनि हैं जिन्होंने आद्य साहित्य के ग्रन्थों पर भाष्यादि निर्माण कर अध्येता के लिए सुगम सोपानपङ्क्ति की रचना की है; दूसरी तालिका के सङ्घटक पाश्चात्य देश के रॉथ, वोहलिंक, गोल्डस्टूकर, मैक्समूलर प्रभृति विद्वान् हैं जिन्होंने आधुनिक भाषा-विज्ञान की नींव रखकर संस्कृत साहित्य की विविध दिशाओं में ऐतिहासिक आलोक आज के अध्येता को प्रदान कर अनुगृहीत किया है। वस्तुतः इन पाश्चात्य मनीषियों द्वारा प्रस्तुत विचार-विमर्श का अनुसन्धान किये बिना संस्कृत साहित्य का अद्यतन अध्येता अधूरा ही समझा जाता है। यद्यपि हमारे प्राचीन वैदिक वाङ्मय के प्रति एतद्देशीय विद्वानों जैसी निरूढ़ पुनीत भावनाओं के सहज अभाव के कारण पाश्चात्य पण्डितों के अनुसन्धानों में वेदों की अपौरुषेयता जैसी हमारी परम्पराप्राप्त मान्यताओं का खण्डन सा दृष्टिगोचर होता है तथापि—मानना होगा—उनके विमर्श प्रायशः बुद्धिवाद से प्रसूत होने के कारण रूढ़िवादी तथा प्रगतिवादी दोनों पक्ष के विद्वानों के लिए शास्त्रीय तथा तार्किक निकष पर चढ़ाने योग्य समझे जाकर नीर-क्षीर विभाग के हेतु परम उपादेय

प्रतीत होते हैं। इस दिशा में ध्यान देने योग्य वर्त्तमान वस्तु-स्थिति यह है कि रूढ़िवाद के परिपोषक वे उद्भट विद्वान् हो सकते हैं जिन्होंने शास्त्रों का आमूलचूड अध्ययन कर तत्त्वग्रहण किया है, और वे ही सचमुच पाश्चात्त्य अनुसन्धानों द्वारा प्रवाहित बुद्धिवाद की परीक्षा करने का उत्तरदायित्व वहन करते हैं; परन्तु प्राचीन प्रणालिका के अनुसार शास्त्र-मन्थन करने में आजन्म अथक परिश्रम करनेवाले कुशाग्रबुद्धि मनस्वियों के लिये वैदेशिक संस्कृतज्ञों की विचारधारा में पाश्चात्त्य भाषाओं से अपेक्षित परिचय न होने के कारण अवगाहन दुस्साध्य सा है; उधर नव्य परिपाटी के अनुयायी वैदेशिक विचारों से भलीभाँति अवगत होने पर भी शास्त्रगत प्रौढ़ व्युत्पत्ति के विरह से विकल रहने के कारण पारम्परिक रहस्यों से परिपुष्ट नहीं होते। ऐसी दुर्घट स्थिति में नीरक्षीर-विभाग द्वारा सदसद्विवेक के अधिगमार्थ दो ही उपाय हैं—(१) प्राचीन-शैली के विद्यावृद्धों तक हमारे साहित्य पर प्रकाशित वैदेशिक देशिकों के विचार पहुँचाने में भाषाकृत अन्तराय को दूर करने का यत्न किया जाय तथा आधुनिक शास्त्राचार्यों को पश्चिमी भाषा-परिवार से समीचीन परिचय कराया जाय; अथवा (२) नव्य पद्धति से अधीत संस्कृतज्ञ पल्लवग्राही बोध से कृतकृत्यता की आबद्ध सीमा का उल्लङ्घन कर शास्त्रगत विपूर्चीन प्रौढ़ज्ञान सम्पादन करें। साध्य-साधन के इन उभय साधनों की सिद्धि इस युग में प्रायः दुस्साध्य सी हैं—इसी कारण संस्कृत अध्ययन की द्विविध पद्धतियाँ, परिस्थितिवश, सुदीर्घकाल से समानान्तर चली जा रही हैं और अपने-अपने क्षितिज की ओर प्रवासी को अग्रसर कर रहीं हैं। परिणाम यह है कि दोनों प्रवासी के बीच सहज खाई इतनी गहरी हो गई है कि तत्त्वगत भ्रान्तियाँ दृढमूल हो अनुदिन पीनपीवर होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में उभयविध विचारों को केन्द्रस्थ कर, उनका

सर्वेक्षण एवं परीक्षण कर, विविध ऊहापोहों के यथोचित समाधान द्वारा तत्त्वाधिगम के लिये आज की स्थिति में एक सरल उपाय यही हो सकता है कि वैदेशिक विचारों से भारतीय विद्वत्समाज तथा जनसामान्य को अवगत कराया जाय। एतदर्थ, वैदेशिक विद्वानों द्वारा प्रणीत, मान्य ग्रन्थराशि का हमारे देश की राष्ट्रभाषा में अनुवाद प्रस्तुत करना ही सेतुबन्धन है। इसी लक्ष्य को सामने रख विहित अध्यवसाय का प्रथम प्रसून प्रस्तुत पुस्तक है।

पाश्चात्त्य मनीषियों में आचार्य थ्योडोर गोल्डस्टूकर संस्कृत भाषा तथा साहित्य के प्रौढ़ विद्वान् हुए हैं; इनकी विद्वत्ता ने यूरप में संस्कृत अध्ययन के प्रति अनुराग को बहुत प्रोत्साहित किया है। संस्कृत व्याकरण, कल्पसूत्र तथा वैदिक वाङ्मय का आचार्य गोल्डस्टूकर ने बड़ी तत्परता के साथ अध्ययन किया, तथा इन-इन विषयों पर उनके निबन्ध बहुत उच्चकोटि के हैं। क्रमशः उन सबका अनुवाद करना अभीप्सित है। सर्वप्रथम श्री गोल्डस्टूकर द्वारा प्रणीत 'हिन्दुओं की प्रबुद्ध रचनाएँ' नामक निबन्ध-सङ्ग्रह उपस्थित किया जा रहा है। इस सङ्ग्रह में उनके चार प्रौढ़ निबन्धों का अनुवाद है। प्रस्तुत अनुवाद यद्यपि भावानुवाद है तथापि मौलिकता का निर्वाह बड़ी सावधानी के साथ करने की चेष्टा की गई है।

आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के अनुरागी सर्वसाधारण पाठकों के लिये रुचिकर तथा विशेषतः उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों के छात्रवृन्द के लिए परम उपयोगी सिद्ध होगा।

देहली—
श्रीरामनवमी
वि० सं० २०१७

रमा शास्त्री
अनुवादिका।

थ्योडोर गोल्डस्टूकर

का

जीवन-वृत्त

थ्योडोर[1] गोल्डस्टूकर का जन्म प्रुशिया के अन्तर्गत कॉनिंग्सबर्ग नगर में ई० सन् १८२१ की जनवरी १८ के दिन एक यहूदी परिवार में हुआ। उन्हें ई० सन् १८३६ में कॉनिंग्सबर्ग के विद्यालय से प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्हें प्राचीनभाषाविज्ञान पर लोबेक के, इतिहास पर शूबर्ट के, दर्शनशास्त्र पर रोजेनक्रान्ट्स के तथा संस्कृत पर पी० फ़न बोहलन के प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तत्पश्चात् ई० सन् १८३८ में उन्होंने बॉन जाकर अध्ययन प्रारम्भ किया और फ़्राइटाग के पास अरबी पढ़ी और साधारण एवं भारतीय साहित्य ए० डब्ल्यू० फ़न श्लेगल के पास पढ़ा। साथ ही साथ लासेन से उन्होंने संस्कृत पढ़ना शुरू किया। ई० सन् १८४० में उन्होंने केवल १९ वर्ष के सुकुमार वय में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की, और ई० सन् १८४२ में वह पेरिस जाकर तीन साल रहे। वहाँ ओजेन बुर्नूफ़ से उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई थी। वह ई० सन् १८४५ में पेरिस से लौट आये, और १८४७ ई० तक कॉनिंग्सबर्ग में रहे। तत्पश्चात् वह बर्लिन आकर रहने लगे, परन्तु उन्हें राजनैतिक कारणों से ई० सन् १८५० में जर्मनी छोड़ना पड़ा। उसी समय हेनरी होरेस विलसन द्वारा संस्कृत कोश के नवीन संस्करण को मुद्रण योग्य तैयार करने में सहयोग

---

१. थ्योडोर = देवदत्त

देने के लिए निमन्त्रण पाकर वह लन्दन गये; और सन् १८५२ ई० में लन्दन युनिवर्सिटी कॉलेज में संस्कृत आचार्य के अवैतनिक पद पर नियुक्त हुए। वह जीवनपर्यन्त इसी पद पर काम करते रहे।

आचार्य गोल्डस्टूकर संस्कृत विज्ञान तथा प्राचीन हिन्दू साहित्य एवं धर्मशास्त्र में प्रमाण समझे जाते थे। एलेक्जन्डर फ़ुन हुमबोल्ट इन्हें बहुत मानते थे; उन्होंने गोल्डस्टूकर की संस्कृत विद्वत्ता के उपकार को बड़ी प्रशंसा के साथ स्वीकार किया है। संस्कृत की जटिल विशेषताओं के विषय में बुर्नूफ़ कई बार उनसे परामर्श किया करते और मैक्सम्यूलर तो उन्हें संस्कृत के उद्भट विद्वानों में गिनते थे। दायभाग के हिन्दू विधान पर वे सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे तथा भारत शासन इस विषय पर उनसे बहुधा परामर्श लेने में गौरव मानता था। सम्भवतः मैक्समूलर तथा डायसॅन को छोड़, अन्य कोई यूरप का विद्वान् ऐसा न था जो भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से गोल्डस्टूकर जैसा अभिज्ञ कहा जा सकता हो। उनका देहावसान मार्च महीने की ६ तारीख सन् १८७२ में हुआ।

गोल्डस्टूकर के संस्कृत अध्ययन का प्रथम फल 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक एक मध्यकालीन दार्शनिक नाटक के अनुवाद रूप में दृष्टिगोचर हुआ था। यह अनुवाद ई० सन् १८४२ में कॉनिंग्सबर्ग से उनके संस्कृताध्यापक रोजेनक्रान्ट्स के द्वारा इस शर्त पर प्रकाशित किया गया था कि गोल्डस्टूकर का नाम उस संस्करण पर मुद्रित नहीं किया जायगा। तत्पश्चात् गोल्डस्टूकर ने महाभारत का, वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित, एक नवीन संस्करण तैयार किया। गोल्डस्टूकर ने अपना सारा जीवन हिन्दू दर्शन, संस्कृत व्याकरण की सकल सूक्ष्मताओं तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन में ही लगाया, और वह संस्कृत

ग्रन्थों तथा टीकाओं की हस्तलिखित प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन तथा नक़ल करने में कभी थकते न थे। उनके अध्यवसाय का एक ही लक्ष्य था—वह सदा सर्वविध पूर्णता के साथ साथ अतिशय शुद्धि को समन्वित करना चाहते थे जिसकी पूर्ण सिद्धि उनके द्वारा सङ्कलित परन्तु अपरिसमाप्त संस्कृत-अंग्रेजी कोश में लक्षित होती है। उनकी सूक्ष्मदर्शिता, ज्ञान की व्यापकता इतनी अधिक थी कि उस कोश का आकार इतना विपुल हो चला था कि उसके मुद्रण के प्रयास को संस्कृत वर्णमाला के प्रथमाक्षर की परिसमाप्ति के पूर्व ही त्याग देना पड़ा, तथापि मुद्रित अंश के ४८० पृष्ठों में इतना महत्त्व-पूर्ण विवेचन है कि वह तत् तत् विषय पर सदा के लिए अनिवार्य सन्दर्भ-ग्रन्थ समझा जायगा। ज्यों ज्यों गोल्डस्टूकर अधिकाधिक सामग्री एकत्र करते गये, और सञ्चित सामग्री का चयन कर उसे विभागशः सुरक्षित करते गए, वह मुद्रण के सम्बन्ध में अधिकाधिक दुस्तोषणीय एवं उपेक्षक बनते गए; कारण वह काम काम के लिए करते थे, न उनमें कीर्त्ति की लोलुपता थी, न आत्मोन्नति की लालसा ही। इसी कारण उन जैसी देदीप्यमान प्रतिभा, अविश्रान्त कार्यनिष्ठा, विशाल दृष्टि एवं अनुपम अनुकूलता से सम्पन्न किसी अन्य सम्पन्न व्यक्ति की अपेक्षा उनके अध्यवसाय का प्रकाशित अंश बहुत ही स्वल्पतर रहा। गोल्डस्टूकर ने वेदभाष्य के लब्धप्रतिष्ठ रचयिता श्री माधवाचार्य के द्वारा प्रणीत जैमिनीय न्याय-मालाविस्तर के समीक्षात्मक संस्करण का प्रथम भाग ई० सन् १८६४ में प्रकाशित किया। प्रस्तुत संस्करण तथा उस पर भूमिका के लिए उन्होंने पच्चीस वर्ष तक सामग्री सङ्कलित की, परन्तु उनके देहावसान तक उसका अन्तिम भाग प्रकाशित न हो पाया। उनके बाद वह संस्करण अध्यापक कौवेल के द्वारा परिपूर्ण किया गया।

उससे भी कहीं अधिक समय तक गोल्डस्टूकर पाणिनि तथा पातञ्जल महाभाष्य के अध्ययन में जुटे रहे। इस अध्यवसाय का फल 'पाणिनि का समीक्षात्मक अध्ययन' नामक ग्रन्थ है। 'संस्कृत वाङ्मय में पाणिनि का स्थान'—इस विषय पर गोल्डस्टूकर का निबन्ध लन्दन से ई० सन् १८६१ में प्रकाशित स्वसम्पादित 'मानव-कल्पसूत्र' के संस्करण के अग्रलेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

व्याकरण के जटिल ग्रन्थों तथा तत्सम्बन्धी साहित्य का वेत्ता गोल्डस्टूकर के तुल्य कोई दूसरा संस्कृतज्ञ न हुआ। वह संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थों पर एक व्यापक कृति की रचना के लिए सामग्री का सन्तत सञ्चय करते रहते थे। उनकी इसी व्यापक योजना का यह एक अंश था कि उन्होंने भारतीय संसद से अपना निरीक्षण अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों की चित्रप्रतिलिपि प्रकाशित करने की अनुज्ञा प्राप्त की थी। उन्होंने इस योजना के अन्तर्गत प्रकाशित किये जाने वाले ग्रन्थों में पतञ्जलि के महाभाष्य और कैयट के प्रदीप तथा भट्टोजि दीक्षित की टीका को चुना था। तुरीयांश आकार में मुद्रित इन छः विशालकाय पुस्तकों के प्रकाशन में उन्हें कई वर्ष तक बड़ी सहिष्णुता के साथ अविश्रान्त परिश्रम करना पड़ा था। खेद है वह अपने देहोत्सर्ग के समय तक दो सौ पृष्ठों का ही मुद्रण करा पाये थे। सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन तो उनकी मृत्यु के पश्चात् ही सन् १८७४ ई० में भारतीय शासन द्वारा हो सका था। यह एक भव्य प्रकाशन है, और उसकी केवल पचास ही प्रति मुद्रित होने के कारण वह तो किसी भी विरल पाण्डुलिपि से भी अधिक अनर्घ है। गोल्डस्टूकर ने भारतीय दर्शन एवं पुराणों पर प्रकाशित अनेक विश्वकोशों के लिए कई निबन्ध लिखे थे जिन्हें सङ्कलित कर उनके निधन

के पश्चात् सन् १८७६ ई० में 'साहित्यिक अवशेष' के नाम से प्रकाशित किया गया। उन्होंने सन् १८६६ ई० में संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ लन्दन में एक संस्था की स्थापना की थी। वह लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसायटी और उसकी कार्यकारिणी परिषद के सदस्य रहे। वह भाषाविज्ञान सभा के अध्यक्ष थे। इन दोनों संस्थाओं के अधिवेशनों में उन्होंने अनेक गवेषणापूर्ण प्रबन्धों का वाचन किया, परन्तु उन्हें प्रकाशित करने की कभी उत्कण्ठा प्रदर्शित नहीं की। 'हिन्दू विधान के वर्तमान व्यवहार में त्रुटियाँ' — यह गोल्डस्टूकर की अन्तिम रचना है।

विषयक्रम

		पृष्ठाङ्क
१	भूमिका	क
२	थ्योडोर गोल्डस्ट्रकर - जीवनवृत्त	१
३	प्रथम अध्याय - वेद	७७
४	द्वितीय अध्याय - वैदिक साहित्य	१००
५	तृतीय अध्याय - हिन्दुत्व के प्रतिपादक ग्रन्थ	१३१
६	चतुर्थ अध्याय - भारतीय विचारपरम्परा का विकास	१४९
७	अनुक्रमणिका	

॥ श्रीः ॥

हिन्दुओं की प्रबुद्ध रचनाएँ

प्रथम अध्याय

वेद

वेद शब्द संस्कृत की विद्[1] धातु से बना है जिसका अर्थ 'जानना' है। वेद शब्द का यौगिक अर्थ 'ज्ञान या जानना' होता है किन्तु मुख्य रूप से यह शब्द उन प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होता है जो ब्राह्मण विचारधारा के मूलस्रोत हैं। हिन्दू जनता इन ग्रन्थों को परमात्मा के द्वारा स्वयं प्रकटीकृत मानती है। मूलतः ये तीन थे — ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद। बहुत समय के पश्चात् इनमें एक और चौथा वेद भी सम्मिलित किया गया, परन्तु वह पूर्वतन वेदों के तुल्य श्रद्धास्पद न हुआ। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के नवम मन्त्र में ऋक्, साम और यजुर्वेद का उल्लेख है पर अथर्व का नहीं; छान्दोग्य उपनिषद् तथा मनुस्मृति में तो इसकी चर्चा भी नहीं है। हाँ, मनुस्मृति में तीनों वेदों का कई बार स्मरण किया गया है, परन्तु अथर्ववेद

---

१. यह लेटिन की विद्, ग्रीक की विड तथा गॉथिक भाषा की वेट् धातु की समानार्थक धातु है।

का नामतः निर्देश कहीं नहीं है; एक बार[1] केवल अथर्वाङ्गिरसी श्रुति का स्मरण कर अथर्व की ओर सङ्केत मात्र किया है। वाक्यार्थ के प्रतिपादक मीमांसाशास्त्र के आचार्यों ने भी वेदत्रयी से ही सम्बन्ध रखा है; अथर्ववेद से उनका कोई सरोकार नहीं।

चारों वेदों में दो-दो भाग हैं—एक, संहिता अथवा मन्त्र-समुदाय और दूसरा, ब्राह्मण।

मन्त्र शब्द का अर्थ है सूक्त या स्तुति। यह 'मन्' धातु से बना है। इसका अर्थ मनन करना अथवा 'जिसके द्वारा मनन किया जाय' होता है। वेदों के भाष्यकार आदरणीय माधव सायण ने अपने मीमांसाग्रन्थ[2] में तथा ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण की प्रस्तावना में मन्त्र शब्द का निर्वचन करते हुए यह कहा है कि कभी-कभी मन्त्र में देवता का आवाहन उत्तमपुरुष के क्रिया-पद से किया गया है तो कभी 'त्वमसि' कह कर। कहीं-कहीं तो केवल 'त्वम्' पद से ही आवाहन समाप्त हो जाता है। मन्त्रों में कहीं धार्मिक अनुष्ठान की चर्चा है तो कहीं स्तुति मात्र है; कहीं आवाहन है तो कहीं विधिवाक्य, कहीं मनन है तो कहीं उपालम्भ। मन्त्र कहीं-कहीं प्रश्नवाचक हैं तो कहीं उत्तररूप[3]। जिसे हम मन्त्रों का निर्माता कहेंगे उसे हिन्दू आचार्य ऋषि मानते हैं—जिसने मन्त्र का सर्वप्रथम उच्चारण किया, देखा या

---

१. मनुस्मृति ११-३३।

२. जैमिनीयन्यायमालाविस्तार।

३. कोलब्रुक 'विविध निबन्ध' १-३०८; म्यूलर-'प्राचीन संस्कृत साहित्य' पृ. ३४३; गोल्डस्टुकर-'मानव कल्पसूत्र की भूमिका'-पृ. ९९।

स्मरण रखा वही मन्त्रद्रष्टा कहलाता है। संक्षेपतः, वही व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि है जिसे उसका पहिली बार आविर्भाव हुआ। अपने अर्थ की सिद्धि के हेतु जिस देव की स्तुति की जाती है वह 'देवता'[1] कहलाता है। जिन मन्त्रों में न कोई अभ्यर्थना है और न अर्चना, उन मन्त्रों का 'देवता' वही होता है जिसका वर्णन वहाँ किया गया हो। उदाहरणार्थ, कई मन्त्र ऐसे मिलते हैं जिन्हें ऋषियों ने दानी राजकुमारों को सम्बोधित किया है—ऐसे मन्त्रों का देवता 'दानस्तुति' है।[2]

'ब्राह्मण'[3] यह पद ब्रह्म[4] अर्थात् प्रार्थना से बना है। यह पद द्व्यर्थी है। माधव-मतानुसार ब्राह्मण 'आदेशपरक हैं अथवा व्याख्यात्मक'। तात्पर्य यह है कि सूक्तों, दृष्टान्तों अथवा उपाख्यानों के द्वारा गूढ दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर सङ्केत करते हुए 'ब्राह्मण' यज्ञिय विधि, उनकी उत्पत्ति एवं प्रयोजन को समझाते हैं। वेदों का ब्राह्मणभाग श्रौत कर्मकाण्ड की आधार शिला है जिसका पूर्ण विवरण विस्तारपूर्वक कल्पसूत्रों में क्रमबद्ध किया गया है। यही ब्राह्मणभाग रहस्यमय एवं दार्शनिक ग्रन्थ 'आरण्यक तथा उपनिषदों' का मूलस्रोत है जो आगे चलकर वेदान्त नामक आस्तिक दर्शन के रूप में विकसित

१. यास्क-निरुक्त ७–१।

२. कोलब्रुक 'विविध निबन्ध' १–२२।

३. यह पद नपुंसकलिङ्गी है जो वर्ण के वाचक पुंलिङ्गी ब्राह्मण शब्द से भिन्न है।

४. म्यूर 'मूल संस्कृत ग्रन्थ' १–पृ. २४०–६५; हॉग 'ब्रह्म और ब्राह्मण' (१८७१) पृ. ५…।

हुए। अन्यान्य दर्शन-शास्त्र भी ब्राह्मणों का अनेक स्थान पर उल्लेख करते हैं, यद्यपि उन दर्शनों की आस्तिकता परम सन्दिग्ध है और उनके सिद्धान्त वेदान्तदर्शन से बहुत भिन्न हैं।

मौलिक रूप में प्रत्येक वेद की एक ही संहिता रही हो—एक मानने वाली बात है। पुराणों में कहा गया है और यह परम्परा प्रचलित है कि पराशर ऋषि के पुत्र कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने शास्त्रों को सुव्यवस्थित रूप में संकलित कर अनेक पुराणों की रचना की और सकल वेदों का अनेक शिष्यों को पाठ दिया—जैसे पैल को ऋग्वेद का, वैशम्पायन को यजुर्वेद का, जैमिनि को साम का और सुमन्तु को अथर्व का[1]। इन ऋषियों ने अपने-अपने अधीत पाठ का अपने अन्तेवासियों को ग्रहण कराया जिन्होंने पुनः अपने शिष्यों को पाठ दिया। फलतः, यह सम्भावनीय है कि शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा के कारण मूलपाठ में कई परिवर्तन हो गये हों और अपने-अपने क्रमानुसार कई सम्प्रदाय या चरण बन गये हों जो अपनी-अपनी पाठपद्धति को प्रधानता देते रहे। विशेषकर यजुर्वेद के विषय में यह अधिक सत्य है जिसमें पाठ-क्रम तथा सहायक ग्रन्थों का वर्गीकरण अधिक व्यवस्थित रूप से उपलब्ध होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि एक-एक वेद की अनेक शाखाएँ हो गईं जो हमारे मत से वेदों के भिन्न संस्करणमात्र हैं। इनमें मुख्यतः विषय एक-सा है परन्तु अपने-अपने सम्प्रदायों को सुरक्षित रखने के लिये यत्र-तत्र शाब्दिक परिवर्तन किये गये हैं। इन विविध सम्प्रदायों का विवरण प्रस्तुत करने वाले एक ग्रन्थ[2] में बहुत से प्रभेदों

---

१. कोलब्रुक 'विविध निबन्ध' १. पृ. १४, विलसन-ऋग्वेद १-पृ.२०।

२. चरणव्यूह।

का उल्लेख किया गया है, यथा—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-वेद के क्रमशः ५, ६८, १००० और ६ चरण बतलाये हैं। इनमें से बहुत ही थोड़े संस्करण उपलब्ध हुए हैं। अधिकांश भाग के लुप्त हो जाने से स्थिति शोचनीय है; यदि वह भी उपलब्ध होता तो समस्त वेदों में यत्र-तत्र सूक्तों की भिन्नता का रहस्य स्पष्ट होता तथा ऋग्वेद की उपलब्ध संहिता से अननुमोदित अनेक अन्धविश्वासों का मूल मालूम हो जाता जो काल-क्रमानुसार बद्धमूल-से हो गये।

प्रत्येक वेद की विशेषता जानने के लिये यदि हम भारतीय ग्रन्थकारों के विचारों को देखें तो हमें इस सम्बन्ध में पर्याप्त सहायता नहीं मिलती। शतपथ ब्राह्मण के उपाख्यानों[1] तथा मनुस्मृति[2] में यही लिखा मिलता है कि ब्रह्मदेव ने यज्ञों के अनुष्ठान के लिये तीन शाश्वत वेद बनाये—अग्नि से ऋग्वेद, पवन से यजुर्वेद तथा सूर्य से सामवेद। भागवत[3] तथा विष्णु-पुराण[4] से भी यही पता चलता है कि ब्रह्मदेव ने अपने पूर्वमुख से ऋग्वेद, दक्षिणमुख से यजुर्वेद, पश्चिममुख से सामवेद तथा उत्तरमुख से अथर्ववेद की सृष्टि की। इस सम्बन्ध में कौषीतकी ब्राह्मण[5] का वचन कहीं अधिक महत्त्व का है जो यह प्रकट करता है कि 'यजुर्वेद तथा सामवेद ऋग्वेद के अनुगामी हैं'—इस सन्दर्भ में अथर्ववेद का कहीं उल्लेख नहीं। इस उक्ति का तात्पर्य सायणकृत ऋग्वेदभाष्यभूमिका में विशदरूप से बताया गया है।

---

१. श. ब्रा. ११-५-८-१। २. म. स्मृ. १-२३।
३. भा. पु. ३-१२-३७। ४. वि. पु. १-५।
५. म्यूलर-प्राचीन संस्कृत साहित्य—पृ. ४५७।

पुरुषसूक्त के नवम मन्त्र[1] के आधार पर इतर वेदों से ऋग्वेद के प्राथम्य का अनुमान करते हुए सायण कहते हैं—"कृष्ण यजुर्वेद के अनुयायी तैत्तिरीय का कथन है कि 'जो भी यज्ञ-यागादि साम तथा यजुर्वेद के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं वे अपेक्षाकृत क्षीण होते हैं तथा ऋग्वेद के द्वारा अनुष्ठित प्रयोग वीर्यवत्तर होते हैं। यजुर्वेद में कई सूक्त ऋग्वेद से ही लिये गये हैं जिनका विनियोग अध्वर्युगण करते हैं, सामवेद के तो सभी सूक्त ऋग्वेद के ही हैं और जो अथर्ववेद का उपयोग करते हैं वे भी अधिकांश अपनी संहिता में ऋग्वेद के सूक्तों का पाठ करते हैं।'[2] इन वचनों से यह निश्चित है कि ऋग्वेद न केवल सबसे अधिक प्राचीन ही है अपितु सर्वाधिक प्रतिष्ठित भी। समग्र सामवेद तथा इतर दो वेदों का अधिकांश ऋग्वेदसंहिता से ही उद्धृत किया है।" आदरणीय भाष्यकार के इस मत की पुष्टि चारों वेद के सूक्तों का तुलनात्मक अध्ययन भी करता है। बेनफ़ी सामवेद के संस्करण की भूमिका में कहते हैं, "सामवेद के ७१ मन्त्र ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं होते तथा दोनों संहिताओं में अनेक स्थलों पर पाठभेद पाया जाता है।"[3] तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद संहिता का पाठ सामवेद के पाठ से अर्वाचीन है अथवा सामवेद में पठित ऋग्वेद के मन्त्र ऋग्वेद संहिता में पठित मन्त्रों से पूर्वतन हैं।[4] इस सम्बन्ध में म्यूलर का कथन कहीं अधिक सत्य है जिनकी धारणा है कि 'उक्त पाठभेद की

---

१. म्योर-संस्कृत मूलग्रन्थ १-पृ. ६।

२. सायण-भा. भू. १-पृ. २। ३. पृ. १९।

४. वेबर-एकाडमीश फर्लीसुंगन-पृ. ९,६२।

प्रतीति इसी कारण हो रही है कि हमें वर्त्तमानकाल में ऋग्वेद की समस्त शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं'।[१]

ऋग्वेद का इतर वेदों के साथ जैसा भी सम्बन्ध है उसके सच्चे स्वरूप का पता वेदों के उद्देश्य से ही लग सकता है—भारतीय आचार्यों का इस सम्बन्ध में एक मत है कि वेदों का लक्ष्य मुख्यतः यज्ञयागादि तथा कर्मकाण्ड ही है।

वैदिक यज्ञ—किसी विशाल यन्त्र की भाँति यह एक बहुत ही उलझी हुई रचना है। इसका थोड़ा-सा ज्ञान कल्प-सूत्र नामक ग्रन्थों में दिया है जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

इनके प्रवर्तकों तथा प्रमाण ग्रन्थों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है कि कोई भी यजमान पुत्रप्राप्ति, पशु-वृद्धि, शौर्य-प्रसिद्धि, शत्रुञ्जय जैसी सांसारिक कामना से यज्ञ करना चाहता हो, तो एक या अधिक ब्राह्मण जाति के ही पुरोहितों की सहायता के बिना वह अपनी धार्मिक आकांक्षा पूर्ण नहीं कर सकता है।

यज्ञ कई प्रकार के हैं—कोई एक दिन का, कुछ दो दिन के, तो कुछ ग्यारह के। कोई-कोई यज्ञ सौ दिन तक चलते थे। तदनुसार कुछ यज्ञ केवल एक ऋत्विज् या पुरोहित द्वारा ही सम्पन्न हो जाते थे और कई के लिये चार, पाँच और छः ऋत्विज् आवश्यक होते थे। उनकी अधिक से अधिक गण संख्या सोलह होती थी। सत्रहवाँ ऋत्विज् सदस्य कहलाता, और वह अध्यक्ष होता था। इनके अतिरिक्त ऋत्विज् के सहायक वधिक, खटिक, स्रुक्धारक और चारण आदि इन ऋत्विग्गण में नहीं गिने जाते थे।

---

१. म्यूलर—प्राचीन संस्कृत साहित्य पृ. ४७५।

आश्वलायन ने ऋत्विग्गण की व्याख्या इस प्रकार की है—प्रथम है होता जिसकी अध्यक्षता में तीन पुरुष, मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत् होते हैं। दूसरा है अध्वर्यु, जिसके साथ प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता; तीसरा ब्रह्मा, जिसके साथ ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता; और अन्तिम उद्गाता जिसके साथ प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य रहते थे[1]। अन्य प्रमाण-पुस्तकों में भी इसी क्रम से अथवा कहीं-कहीं क्रम भेद से व्यवस्था दी हुई है।[2]

आगे कल्पग्रन्थों में बताया गया है कि इन ऋत्विजों में अध्वर्यु को यजुर्वेद के, उद्गाता को सामवेद के और होता को ऋग्वेद के अनुसार कार्य करने पड़ते हैं। ब्रह्मा को इन तीनों ऋत्विजों के कार्य में रही त्रुटि का निरीक्षण करना होता है अतः उसे तीनों वेदों का ज्ञान होना आवश्यक है।[3] साथ-साथ अध्वर्यु को यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण उपांशु (सुनने में न आने वाली आवाज़ में) करना पड़ता है, उद्गाता को साम गाने होते हैं[4] और होता को ऋग्वेद की ऋचाएँ उच्च स्वर से बोलनी पड़ती हैं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि प्रत्येक वेद की पृथक् पृथक् विधियां थीं परन्तु कोई भी पुरोहित किसी भी विधि में अथर्व-वेद के मन्त्रों का प्रयोग नहीं करता था। मधुसूदन का कहना है कि अथर्ववेद का उपयोग यज्ञसम्बन्धी कार्यों में नहीं होता। इसमें

---

१. श्रौतसूत्र ४-१। देखो म्यूलर-प्रा. सं. सा. पृष्ठ ४६८-४६९ जहाँ भ्रम से ब्रह्मा के वर्ग के पुरुषों का उद्गाता के साथ, तथा उद्गाता के सहयोगियों का ब्रह्मा के साथ नामोल्लेख किया है।

२. जैसे कात्यायन, जैमिनीय आदि।

३. जै. न्या. मा. ३-७-१७।

४. यहूदियों में भी पेंटेट्यूश का यही काम है।

शान्ति देने की, आशीर्वाद देने की और शाप देने की विधियां बताई गई हैं। म्यूलर का कथन है[1] कि इसके मन्त्र आदिकाल से ही यज्ञ-विधि के परिशिष्ट माने गये हैं। उनका उद्देश्य यज्ञ में आये किसी भी विघ्न के प्रभाव को निष्फल करना था। उन मन्त्रों में शाप व आशीर्वाद भी थे, और कई प्रसिद्ध मूढ़ विश्वासों के सूत्र भी, जो हर काल और हर देश में प्रमाण माने गये हैं। उक्त विद्वान् का कथन है कि उन मन्त्रों को जानना तथा अन्य तीनों ऋत्विजों की त्रुटि को सुधारने में उनका प्रयोग करना भी ब्रह्मा ऋत्विक् का ही काम था। हर तरह यह निश्चित है कि अथर्व वेद की गणना यज्ञसम्बन्धी वेदों में नहीं है। प्राचीन संस्कारों को नियत करने वाले ग्रन्थों में उसका कोई उल्लेख न होने से इसकी अर्वाचीनता का निर्णय हो जाता है, यद्यपि इसकी उत्तर-कालीनता इसके सूक्तों की भाषा से, जो और वेदों में अनुपलब्ध हैं, प्रमाणित नहीं होती।

यज्ञ-सम्बन्धी तीनों वेदों के विषय की कल्पग्रन्थों के वैधानिक नियमों से तुलना करने पर एक अन्य आवश्यक सूचना प्राप्त होती है। यजुर्वेद और सामवेद के सारे मन्त्र किसी न किसी याज्ञिक कार्य में अवश्य प्रयुक्त होते हैं। किन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों में यह बात नहीं है। ऋग्वेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों में कहा है, "इसके बहुत से मन्त्र, यज्ञ कार्यों में अत्यावश्यक हैं परन्तु अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनका विनियोग किसी भी प्रयोग में नहीं पाया जाता है।" इस श्रेणी के मन्त्र काव्यरूप या आध्यात्मिक कोटि के हैं। यह अनुमान सत्य है कि इन

---

१. प्रा. सं. सा. पृ. ४४७।

मन्त्रों में अकृत्रिमता और काव्यसम्बन्धी गुणों के समावेश से पहिले ही प्रत्येक वेद पर पूर्णरूप से याज्ञिक मुद्रा लगाने की उत्तरकालीन दृढ धारणा नष्ट हो चुकी थी, क्योंकि उनका समावेश स्तुतिगान में नहीं किया जा सका। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सूक्त आध्यात्मिक काव्य की गणना में आता है[1]। यह इस प्रकार है—"न वहाँ सत्ता थी न शून्यता; न जगत्, न आकाश। न कुछ ऊपर था और न कहीं किसी के सुख में कोई बँधा था या बाँधता था। न गहन व भयानक जल ही था। वहाँ न मृत्यु थी, न अमरता। न दिन और रात्रि का भेद ही था। किन्तु वह (महान्) अन्तर्निहित अकेली स्वधा से ही, बिना दैवीज्ञान के जीवित रहा; उसके सिवा अन्य किसी का कोई अस्तित्व न था। केवल अन्धकार था क्योंकि सम्पूर्ण विश्व तम से ओतप्रोत था। वह तम जल में मिले रसायनों के समान अभिन्न था किन्तु आवरण से ढका वह पिण्ड मनन शक्ति से उत्पन्न किया गया था। प्रथम उसके मानस में वासना उत्पन्न की गई और वही उत्पत्ति का मूल बीज बना। इसी का अपने हृदय में बुद्धि के द्वारा साक्षात्कार कर धीरपुरुष अस्तित्व के बन्धन को असद्रूप पहिचानते हैं। इन सर्गात्मक क्रियाओं की प्रकाशयुक्त किरणें मध्य से फैलीं, ऊपर से या नीचे से? तुरन्त ही यह जनन-बीज पुरुष और प्रकृति में बदल गये। वह (प्रकृति), जो पुरुष के अन्तर्हित है, उससे न्यून है और वह (पुरुष) जो चेतन है श्रेष्ठ है। किसे इसका सही ज्ञान है और विश्व में कौन यह कहेगा 'कहाँ से और

---

१. कोलब्रुक—विविध निबन्ध-पृ. ३३

क्यों यह सृष्टि बनाई गई'? देवता विश्वोत्पत्ति के पश्चात्कालीन हैं; फिर कौन जान सकता है कि कहाँ से यह विश्व उत्पन्न हुआ और कैसे इसका यह विचित्र रूप बना? अथवा यह स्वयं अपने को (स्थिर) रख सकता है या नहीं? वह जो सबसे ऊपर स्वर्ग में स्थित है वही इस विश्व का नियन्ता है, और वही सचमुच जानता है; अन्य इस ज्ञान को पाने में असमर्थ है।"

यज्ञ में प्रयुक्त न हो सकने वाले ऋग्वेद सूक्तों का एक और उदाहरण मैक्सम्युलर ने 'संस्कृत का प्राचीन साहित्य' नामक अपने उत्तम ग्रन्थ में दिया है।[1] यह सूक्त व्यङ्ग्य से परिपूर्ण है; यहाँ तक कि ब्राह्मणों की विस्तृत विधियों का उपहास भी किया गया है। इसका विवरण निम्नलिखित है—

"तपस्या करते हुये ब्राह्मणों की तरह एक वर्ष दण्डवत् लेटे रहने के बाद मेढकों ने वर्षा की बौछारों से जाग कर शब्द किया। तालाब में पड़ी प्यासी मछली की तरह व्याकुल इन मण्डूकों पर जब आकाश से बूँदें गिरीं तब उनका गान एक साथ उसी प्रकार हुआ जैसे गायों का अपने बछड़ों के साथ रम्भाना। वर्षारम्भ में जब इन उत्कण्ठित तृषार्त्त मण्डूकों को वर्षा भिगोती है, वे एक दूसरे के पास जाते हैं तथा पिता-पुत्र के समान 'अक्खल' कहकर परस्पर संलाप करते हैं। पानी की बौछार में आनन्द लेते हुए वे एक दूसरे से आलिङ्गन करते हैं और भूरा मण्डूक गोता लगाने के पश्चात् कूदता है तथा अपना स्वर हरे मण्डूक के स्वर से मिलाने लगता है। वे एक दूसरे की वाणी को दोहराते हैं

१. म्योर—प्रा. सं. ग्र. भाग ५ पृ. ४३५......; हॉग "ब्रह्म और ब्राह्मण" पृ. ४०

जैसे गुरु और शिष्य। जल में मग्न मण्डूकों के वाग्विलास से ही मानो उनका प्रत्येक अङ्ग वृद्धि पाता है। उनमें एक मेंढक है धेनु-ध्वान, दूसरा अजास्वन; एक भूरा, दूसरा हरा। वे यद्यपि एकनाम हैं तथापि भिन्न होते हैं और बोलने के अनुसार ही उनकी ध्वनि में आवश्यकतानुसार उतार-चढ़ाव होता रहता है। जैसे अतिरात्र के सोम-यज्ञ में सरोवर के चहुँ ओर बैठकर संलाप करते ब्राह्मणों के समान तुम भी,—

'हे मण्डूको! वर्षाकाल के आरम्भ दिन को उत्सव से मनाओ।' सोमरस से वार्षिक संस्कार कराते हुए ब्राह्मणों ने अपना कथनीय कह दिया। अध्वर्यु गर्म पात्र ले जाते समय पसीने से जब लथपथ हो रहे थे तो आश्रमवासियों की तरह ज़ोर का शब्द करने लगे। उन्होंने (अध्वर्यु) देवताओं का क्रम सदा स्थिर रखा है क्योंकि देवता १२ वें माह पूजे जाते हैं; यह लोग ऋतु की अवहेलना नहीं करते। मण्डूक जो उष्ण पात्रों के तुल्य थे, वर्षा ऋतु आने पर मुक्ति पा गये हैं। धेनुध्वान, अजा–स्वन, भूरे और हारीत ने हमें निधियाँ प्रदान की हैं। वे मण्डूक जो कई शत गायें देते हैं, समृद्धिशाली हेमन्त में हमारे आयुर्वर्धक होते हैं।"

अन्तिम मण्डल के एक और सूक्त में एक जुआरी पाप में प्रवृत्त करने वाली दुष्ट वासनाओं पर पश्चात्ताप करता है। ऐसे व इसी से मिलते-जुलते अन्य सूक्त, मौलिक देवताओं की प्रभुता का गान करने वाले उन सूक्तों से बहुत भिन्न हैं जिनका यज्ञिय कर्मों में प्रयोग किया जाता है।

मूलतः ऋग्वेद संहिता का कर्मकाण्ड से सम्बन्ध न रहा हो–इस मत की पुष्टि के और भी उदाहरण हैं। यदि ये गान केवल

भक्तिसाधना के ही लिये बने हैं तो प्रयोगविधि के अनुसार ही उनका संकलन अवश्यम्भावी है; पर इसके विपरीत वे आन्तरिक काव्यमय धार्मिक भावना से बहे जा रहे हैं; और जो संभवतः समय आने पर धार्मिक कार्यों के अनुकूल बन उनमें प्रयुक्त भी किये जायँ फिर भी भक्तिसूत्रों की यथाक्रम व्यवस्था से मेल नहीं खायेंगे। ऐसी क्रमिक व्यवस्था यजुर्वेद और सामवेद के सूक्त संग्रह की एक विशेषता है जो ऋग्वेद संहिता में कहीं नही पाई जाती।

यजुर्वेद के अध्यात्मविषयक अन्तिम अध्याय को छोड़ शेष सब अध्यायों में ऐसे मन्त्र हैं जिनका सङ्कलन यज्ञविशेष में उनके प्रयोग के अनुसार किया गया है। अर्थात् जिस प्रयोग में जिन-जिन मंत्रों का उच्चारण विहित है वे मन्त्र सब एक ही अध्याय में रखे गये हैं।

सामवेद संहिता के सूक्त विशेषतः सोमयाग में गाये जाते थे। ऋग्वेद के मन्त्रों की व्यवस्था इससे भिन्न है। इसमें मंत्रों का क्रम पूरे यज्ञ की आद्योपान्त विधि के अनुसार नहीं है। ऋग्वेदीय सूक्त यज्ञविधि के अनुसार नहीं बाँटे गये हैं; कहीं तो वे उन देवताओं के अनुसार हैं जिन्हें सम्बोधित कर वे कहे गए हैं और कुछ ऋषियों के अनुसार जिन्होंने उनका निर्माण किया। अतः उनका संकलन प्रयोगविधान से पूर्व ही हुआ होगा जब कि सामवेद और यजुर्वेद का मन्त्रक्रम निश्चय ही प्रयोगविधि के निर्धारण के पश्चात् हुआ जान पड़ता है।

चारों वेदों के सामान्य लक्षण बता कर अब हम उनके विशिष्ट रूप का तथा उनसे सम्बद्ध मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का संक्षेप में वर्णन करते हैं।

सर्वप्रथम एवं मुख्यतम ऋग्वेद केवल एक शाखल-शाखा के रूप में पाया जाता है। इसकी संहिता अथवा सूक्तों का संग्रह दो रीतियों से संगृहीत है।

एक, केवल विषय के स्वरूप के अनुसार और दूसरी, मन्त्रों के वक्ताओं के अनुसार। तथापि दोनों संहिताएँ सूक्तों की क्रमिक व्यवस्था में भेद न रखती हुई समानान्तर चलती हैं। पहिली रीति के अनुसार संहिता आठ अष्टकों में विभाजित है; प्रत्येक अष्टक में पुनः आठ-आठ अध्याय हैं, तथा एक-एक अध्याय में कई वर्ग हैं। इन वर्गों में अनेक ऋचाएँ होती हैं। साधारणतया प्रत्येक वर्ग में पाँच ऋचाएँ पाई जाती हैं। दूसरी रीति के अनुसार संहिता दस मण्डलों में विभक्त है तथा वे मण्डल अनुवाकों (८५ अनुवाक्यों) में पुनर्विभाजित हैं, जिनमें १०१७ (अथवा ११ अतिरिक्त सूक्तों सहित १०२८) सूक्त होते हैं तथा दस सहस्र पाँच सौ अस्सी अर्ध ऋचाएँ हैं। इन मण्डलों में से प्रारम्भिक आठ का उपक्रम अग्नि को संबोधित सूक्तों से होता है, और उनके बाद इन्द्र को। इन्द्र को सम्बोधित सूक्तों के बाद वाले सूक्त विश्वेदेवों (अर्थात् समस्त देवों की समष्टि) को सम्बोधित करते हैं, और उनके बाद वे सूक्त हैं जो अन्य पवित्रात्माओं का सम्बोधन करते हैं।

नवम मण्डल पूर्णतः सोम-वल्ली को सम्बोधित कर लिखा गया है इसलिये वह सामवेद संहिता से सम्बद्ध है। दशम मण्डल में प्रधानतः अथर्ववेद के सूक्तों का संग्रह है। प्रणेताओं के आधार पर दूसरा मण्डल गृत्समद ऋषि, तीसरा विश्वामित्र, चतुर्थ वामदेव, पाँचवाँ अत्रि, छठा भारद्वाज, सातवाँ वसिष्ठ,

आठवाँ कण्व तथा नवम अङ्गिरस् द्वारा प्रोक्त है। प्रथम तथा दशम मण्डल विविध ऋषियों द्वारा निर्मित हैं।

सूक्तों में वर्णित उपासना में स्तुतियाँ और अर्थवाद हैं। प्रथम मुख्यतया आहुति और तर्पण से सम्बद्ध है—अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है, सोम रस स्रुक् से देवताओं को अर्पित किया जाता है। इसकी विधि का ठीक-ठीक तो पता नहीं; फिर भी प्रतीत होता है कि कभी अग्नि पर, कभी भूमि पर अथवा वेदी पर आस्तीर्ण कुशा पर यह छिड़का जाता था। शेष सोमरस सदा ही सहयोगियों द्वारा पान किया जाता था। यह कार्य यजमान के घर अग्नि शाला में किया जाता था, सम्भवतः जहाँ गार्हपत्य अग्नि सदा प्रज्वलित रहती थी। परन्तु कहीं कहीं आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित रखने का विधान पूर्वोक्त पद्धति का अपवाद है। किसी भी प्रकार के मन्दिर या सामान्य पूजागृहों का कहीं उल्लेख नहीं है। अत एव स्पष्ट है कि उपासना पूर्णतः घरेलू ही थी ·····। विशेष अवसरों पर पशु-बलि दी जाती थी—यह प्रथम मण्डल के कुछ संक्षिप्त एवं अस्पष्ट सन्दर्भों से प्रतीत होता है। कुछ वाक्यों से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नर-बलि भी अपरिचित नहीं थी। बलि का विधान विरल और कभी-कभी प्रतिरूपक सा ही था। वास्तव में यह अपवाद है। साधारणतः नित्य की आहुतियाँ घृत तथा सोम रस से ही दी जाती थीं।

प्रायः सर्वत्र सूक्तों में उपासना और अर्थवाद दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है। देवता की शक्ति, महत्ता, उदारता, सहृदयता आदि गुणों का और शारीरिक सौन्दर्य का भी वर्णन बढ़े-चढ़े प्रशंसात्मक वाक्यों में किया गया है। उदारता व पराक्रमों को

स्मरण कर देवताओं की प्रशंसा की है। पूर्व उपकारों के बदले उनसे तर्पण और आहुति स्वीकार करने की प्रार्थना की जाती है। यज्ञ में उनका आवाह्न कर उपस्थिति की याचना की जाती है और उनके सम्मानार्थ अनुष्ठित इस यज्ञ की स्वीकृति में यजमान और कभी-कभी मन्त्रनिर्माता या मन्त्रवक्ता के लिये उनसे आशीर्वाद भी माँगे जाते हैं।

यह अभ्यर्थना अधिकतर धन-धान्य, आयु, सन्तति, पशु, गाय और अश्व जैसे ऐहिक निजी विषयों की प्राप्ति के लिये होती थी। इनमें शत्रु से अपनी रक्षा, उनके ऊपर विजय, धार्मिक अनुष्ठान के विरोधी या यों कहिये दूसरे धर्म पर विश्वास करने वाले विपक्षियों के विनाश आदि की याचना भी होती थी। अमरत्व की या भावि सुख की भावना बहुत ही थोड़ी मात्रा में पायी जाती है और वह भी स्पष्ट रूप में कहीं निर्दिष्ट नहीं है। देवताओं को अवश्य अमर माना गया है। मनुष्यों के द्वारा प्राप्य अमरता की सम्भावना केवल ऋभु नामक देवयोनियों के दृष्टान्त में ही मिलती है। यह लोग अपनी धार्मिकता के कारण देवकोटि पर पहुँच गये थे। राक्षसों से रक्षा की प्रार्थना की है और एक दो स्थानों पर यम को 'प्रेतराज' भी कहा है। सदाचार-सम्बन्धी नैतिक उत्कर्ष की कोई माँग नहीं की गई—कहीं-कहीं झूठ के और पाप के प्रति घृणा अवश्य बताई गई है। पाप के लिये पश्चात्ताप और उसकी शुद्धि की आकांक्षा प्रकट की गई है। एक सूक्त में देवताओं से यजमान के हर तरह के पाप नष्ट करने के लिये सविनय प्रार्थना भी है। स्तुतियों

---

१. विल्सन - ऋग्वेद-भाग १ पृ. २३……।

का मुख्य उद्देश्य सांसारिक एवं भौतिक विषयों की प्राप्ति है। कहने की रीति से प्रतीत होता है कि माँगी हुई वस्तुओं के मिलने का याचक को पूर्ण विश्वास है। आहुतियों से देवताओं को अपनी शारीरिक अपेक्षाएँ पूरी करने की जो सुविधाएँ मिलती हैं और स्तुतियों से जो बल और स्फूर्ति प्राप्त होती है उसके प्रतिफल में उपयाचित वस्तुएँ देवताओं की देन हैं। अन्यथा इन स्तुतियों में यजमान की इच्छा-पूर्ति के लिये देवताओं को विवश करने की कोई सामर्थ्य नहीं दीखती। ऐसी कोई विवशता वैदिक सूक्तों में नहीं पाई जाती जैसी उत्तरकालीन पुराणों में मिलती है। पौराणिक कथानकों की प्रायः यह एक विशेषता है कि निश्चित अवधि तक की गई तपस्या, देवता को माँगा हुआ वरदान देने को विवश कर देती है, चाहे वह वरदान भयावह हो अथवा स्वयं उनके लिये घातक ही क्यों न हो।[1]

वैदिक देवता

यदि यह पूछा जाय कि ऋग्वेद-सूक्तों के निर्माता किन-किन देवताओं की स्तुति करते थे—तो इसका उत्तर प्राचीनतम वेदभाष्यकार यास्कने, जिसके ग्रन्थ उपलब्ध हैं, इस प्रकार दिया है—"वैदिक निरुक्त[2] में बताया है कि देवता तीन हैं; अग्नि, जिसका निवास-स्थान पृथ्वी है; वायु या इन्द्र जिसका वास-स्थान अन्तरिक्ष है; और सूर्य जो द्युस्थानवासी है। हर देवता की कई विशेषतायें हैं, अत एव उनके कई नाम हैं; परन्तु देवता की आत्मा एक ही है, कई गुण होने के कारण उसकी

---

१. विल्सन—ऋग्वेद-भाग-१-पृ० २३...।

२. निरुक्त—७-४।

कई प्रकार से प्रशंसा की गई है। अन्य देवता उस एक ही देवता के अंश हैं।"

ऋग्वेद की अनुक्रमणिका भी इसी कथन का समर्थन करती है—"देवता तीन हैं जिनके स्थान पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं—नामतः अग्नि, वायु और सूर्य। आध्यात्मिक-सम्बन्धी उनके नाम पृथक्-पृथक् हैं, समष्टि रूप में उनका देवता प्रजापति है। ॐ शब्द देवतासामान्य का निर्देश करता है और सर्वोच्च स्थान में वास करने वाले परमेष्ठी देवता के लिये प्रयुक्त होता है। यह शब्द बृहत्ब्रह्म, देव और अध्यात्म अधीक्षक आत्मा के लिये भी प्रयुक्त होता है। अन्य स्थानों पर वास करने वाले देवता इन्हीं तीन देवताओं के अंश हैं। उनकी पृथक्-पृथक् कार्य-भूमि होने के कारण उनके कई नाम और भाँति भाँति के वर्णन हैं, किन्तु वास्तव में केवल एक ही महान् आत्मा है। सब प्राणियों की आत्मा होने के कारण उसे सविता कहते हैं। ऋषि ने उसके विषय में कहा है "सविता जगत् और तस्थिवान् दोनों की ही आत्मा है। दूसरे देवता उसके ही अंश हैं[1]।"

ऊपर के कथन को यदि वैदिक सभ्यता का सही प्रतिनिधि मानें तो साफ़ झलकता है कि वैदिक धर्म एक ही देवता को मानता था, या कम से कम एक ही सृष्टि-कर्ता को। साथ ही साथ यह भी प्रतीत होता है कि वैदिक सूक्तों में कहे असंख्य देवता एक महान् आत्मा के गीतिमय रूपक हैं। ऋग्वेद का एक पूर्वोक्त आध्यात्मिक सूक्त भी इस वाक्य का अनुमोदन

---

१. कोलब्रुक—विविध निबन्ध—पृ. २७।

करता है। ऋग्वेद के मन्त्रों का पक्षपातरहित परीक्षण हमें इस परिणाम पर पहुँचाता है कि भारतवर्ष में धर्म ने इस मार्ग का अनुसरण नहीं किया। आगामी दार्शनिकयुग के एक या दो सूक्तों के निरीक्षण से यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि उस संहिता में प्राकृतिक शक्तियों की ही भिन्न-भिन्न आकारों और उपाधियों में आराधना की गई है। अनुक्रमणी द्वारा अनुमोदित यास्क के वैदिक देवताओं सम्बन्धी त्रिधा विभाजन का ज्यों का त्यों हम सहसा समर्थन नहीं कर सकते। उसका कारण यह है कि अग्नि का स्थान केवल पृथ्वी पर ही निर्धारित नहीं, और न इन्द्र को वायु की समानता पर रखा जा सकता है, तथा सूर्य को वैदिक देवतागण में अग्नि और वायु के साथ समान पदवी देना भी सङ्गत नहीं। संक्षेपतः, ऋग्वेद के मुख्य देवता, जैसा पहिले देखा जा चुका है, केवल अग्नि और इन्द्र हैं। इन दोनों देवताओं को संहिता के दश मण्डल में से आठ मण्डल की प्रथम सूक्तपंक्तियाँ सम्बोधित करती हैं। अग्नि[1] तीन रूपों में रहती है:—

(१) पृथ्वी पर नित्य-कर्म और यज्ञ-सम्बन्धी कार्यों में रहने वाली अग्नि। यह दीपन-पाचन का काम करती है तथा पशु और शाकादि की जीवन-दात्री भी है।

(२) इसका दूसरा स्वरूप विद्युत् है; और

(३) तीसरा, सूर्य का ताप है।

अतः यज्ञ के उत्पादक तथा देवताओं और मनुष्यों के मध्यस्थ संयोजक के नाते अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि देवताओं के पास बलि ले जाती है और उन्हें यजमान के पास बुला

---

१. (यह √अज्-चलना धातु से बना है, इसका लैटिन में स्वरूप 'इग्नि' है)—म्योर १-१,५-१९९...।

लाती है। रात्रि के समय वेदी को अपवित्र करने वाले और धर्म के विनाशक राक्षसों से मर्त्यों की वह रक्षा करती है।

दूसरी ओर विद्युत् के रूप में अग्नि जल का पुत्र अथवा पौत्र है (नप्ता हि आपः)। अपि च सूर्य के रूप में वह धन-धान्य, स्वास्थ्य, एवं जीवनशक्ति देती है और सब वस्तुओं का नाश कर उनका पुनः सर्जन करती है। उसके अधीन बहुत देवता नहीं हैं। कहीं-कहीं मरुत् अग्नि के सहयोगी कहे गये हैं परन्तु बहुधा वे इन्द्र के सहायक माने गये हैं। स्त्री-देवताओं में आप्री, जिसके अन्तर्गत यज्ञ-शाला के द्वार[1] आदि जड़-पदार्थ भी हैं, इसी सूर्याग्नि की अधीनस्थ देवता है। अग्नि की बलि घृत है।

इन्द्र नभोमण्डल का बलवान् देवता है। इस पद की व्युत्पत्ति बहुत ही अनिश्चित है। सम्भवतः, यह √इद् या इन्द् से बना है जो अब लुप्तप्राय है और जिसका अर्थ 'देखना' या 'जानना' होता है। अपने प्रिय सोमरस की आहुति से इन्द्र प्रसन्न होता है और तब वह आशीर्वाद और समृद्धि प्रदान करता है। वह सूर्य की उन्नति का कारण है। उसी ने नक्षत्रमण्डल को आकाश में स्थित किया है। उसके सबसे महान् कार्य हैं—सूर्य को ढँकने वाले वृत्र पर विजय और पृथ्वी पर वर्षा न करने वाले बादलों का पराजय। वह अपने वज्र से उन पर प्रहार करता है जिससे वर्षा होती है। उसे पणि या बल नामक राक्षस के द्वारा चुराकर कन्दराओं में छुपाई गायों का ढूंढने वाला और रक्षक भी कहा गया है।

ह्विटनी[2] के मतानुसार सम्भवतः 'गो' शब्द लाक्षणिक अर्थ

---

१. काण्व संहिता के आप्री-सूक्तमें १२ देवता का उल्लेख है।

२. जर्नल अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी—३—पृ. ३२०।

में प्रयुक्त हुआ है और उससे तात्पर्य जलाशयों का है जिन्हें इन्द्र ने प्रवाहित किया है। यह कथा वृत्रासुर की कथा में वर्णित जल-प्रसङ्ग से मिलती-जुलती है। परन्तु हो सकता है कि यह कथा ग्रामीण चरवाहों के जीवन का काव्यमय वर्णन हो जैसा प्रायः ऋग्वेद के सूक्तों में उपलब्ध है। इन्द्र के अधीनस्थ देवताओं की एक श्रेणी है मरुत्। यह वृत्र के विरुद्ध लड़ने और वर्षा करने में इन्द्र की सहायता करते हैं। यह देवगण चितकबरे बारहसिंगों की सवारी करते हैं, चमकीले कवच पहिनते हैं और हाथों में भाले लिये रहते हैं। वे कहाँ से आते हैं, अथवा कहाँ जाते हैं, कोई नहीं जानता। उनके दौड़ते हुए आने की आवाज़ बहुत ज़ोर से सुनाई पड़ती है; पृथ्वी काँपने और पर्वत हिलने लगते हैं। वे रुद्र के पुत्र कहलाते हैं जो विप्लव-सम्बन्धी एक विचित्र देवता हैं। उनके पश्चात् वायु देवता का नाम दिया गया है। यह देवता सहस्र अश्वों को हाँकता है। उसकी साँस से राक्षस भाग जाते हैं। जैसे ही वायु का प्रथम झोंका आता है, उषःकाल में सोमपान के लिये उसका आगमन होता है और उषस् (अरोरा) इसके लिये भड़कीले वस्त्र बुनती है। कहीं-कहीं इस देवता को इन्द्र से अभिन्न मान लिया है, पर कुछ मन्त्रों में इन्द्र और वायु की, यज्ञ में भाग ग्रहण करने के हेतु साथ-साथ स्तुति की गई है।

यास्क के द्वारा द्युलोक में बताये देवताओं में प्रथम स्थान अदिति के पुत्र आदित्यों का है[1]। आदित्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है: "आदित्य सब त्रुटियों (न्यूनता) से परे हैं। वे न

---

१. अदिति का अर्थ है 'अविनाशिता'। हिलिब्रॅण्ड—'उबेर डि गोटिन् अदिति'—ब्रेस्लो—१८७६।

तो सोते हैं, न आँख झपकाते हैं। उनका गुण सम्पूर्ण परम सत्य है। वे अपराध (पाप) से घृणा करते हैं और उसके करने पर दण्ड देते हैं। उनका विशिष्ट कार्य मानव को पाप से बचाना है।" इन्हीं आदित्यों में एक है सूर्य। वह स्वर्ण जैसी आभावाले सात अश्वों के द्वारा वाहित रथ में चलता है। मूर्त्तिमान् एक दिव्य खग से उसकी तुलना की गई है। किन्तु उसे वैदिक देवताओं में वह मुख्य स्थान नहीं मिला जिसकी हम आशा करते हैं या जो स्थान यास्क के द्वारा दिया प्रतीत होता है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लौकिक संस्कृत में सूर्य के अन्य पर्याय विशेष कर सविता, पूषा और अर्यमा भी वैदिक उपाख्यानों में उन्हीं आदित्यों के बोधक हैं। विष्णु भी आदित्य ही है और यह सूर्य की—उदय, आरोह और अस्त—तीनों स्थितियों में एकरूप है।[1] अन्य आदित्यों में वरुण भी उल्लेखनीय है। वरुण[2] सर्वव्यापक देव है; विश्व को आज्ञा देने वाला है, विश्व का शासक है। उसने वे शाश्वत नियम बनाये हैं जिनसे विश्व की गति संयत है और जिनका कोई देवता या मनुष्य उल्लङ्घन नहीं कर सकता। उसने ऋतुओं की व्यवस्था की है; सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और उनके मार्गों को निर्धारित किया है। हर प्राणी को उसने अपनी-अपनी विलक्षणता प्रदान की है। वरुण अपने स्वर्गस्थ आसन से सब कुछ देखता और सुनता है। उससे कुछ भी गुप्त नहीं रह सकता। उसे रात्रि का अध्यक्ष देवता माना है, वह आकाश में ज्योति सँम्हालता है, और सूर्य के मार्ग को विस्तृत करता है। वह धनदाता, पापनाशक

---

१. ऋग्वेद – १ – २२ – १७।

२. यह √वृ-ढँकना, और ग्रीक शब्द Ourano से बना है।

और पशुपालक है। बहुधा वरुण का आवाहन स्तुतियों में मित्र के साथ किया जाता है। मित्र भी आदित्यों में से एक है, वह दिन का अधिष्ठाता देव है और जल का उद्भावक एवं प्रदाता माना गया है।

यह स्वाभाविक ही है कि सूर्य की उपासना के साथ-साथ उषस् की उपासना भी हो। उसका स्वरूप भास्वर परिधान पहिने हुए एक कुमारी जैसा बताया गया है। वह अन्धकार को दूर करती है; सूर्य के लिये मार्ग-निर्देश करती है। वह यज्ञ के लिये सङ्केतस्वरूप है। उषा सब प्राणियों को निद्रा से जगाती है, अन्धकार में पतित को प्रकाश देती है तथा पङ्गु और निस्सहायों को चलने की शक्ति देती है।[1]

अन्त में एक और देवता ध्यान देने योग्य है—दो अश्विनी कुमार।[2] वे दोनों समुद्र के पुत्र हैं—सदा युवा और रूपवान्। वे सोने के तीन पहियों वाले एक त्रिकोण रथ में यात्रा करते हैं जो एक गदहे या दो घोड़ों से खींचा जाता है। वे उषा के पुरोगामी देवता हैं। उन्हें 'दस्र' अर्थात् 'ज्वर और व्याधि को नाश करने वाले' कहते हैं, क्योंकि वे देवताओं के वैद्य हैं। उनका दूसरा नाम नासत्य है। जीवन सम्बन्धी उनकी कई कथाएँ हैं: उन्होंने खोये हुए पुत्र को ढूँढ़ कर पिता से मिलाया; अन्धे को दृष्टि-दान दिया; एक मनुष्य को वृद्ध शरीर के बदले तरुण शरीर दिया; संग्राम में लँगड़े किसी मनुष्य को धातु से बना कर एक पैर लगाया। उन्होंने समुद्र के यात्रियों को कष्टों में सहायता दी, और ऐसे ही अनेक कार्य किये। सम्भवतः यह

---

१. ह्विटनी – ज. अ. ओ. सा. – ३ – पृष्ठ – ३२२।

२. मिरियान्थस – डि अश्विन्स – म्यून्शेन – १८७६।

दो चमकीले विन्दु हैं जो उषा के पहिले आते हैं। कोई उनकी तुलना ग्रीक देश के डियोस्क्युरि (Dioscuri) से करते हैं।

नक्षत्रों को कहीं भी पूजा का विषय नहीं बताया है। यद्यपि सोम के नाम से चन्द्रमा की कई जगह स्तुति की गई है, विशेष कर वहाँ जब उसे अन्धःकार को दूर करने वाला कहा है। ऐसे प्रकरण में उसका नाम और स्तुति द्व्यर्थी हैं जो विशेष कर सोम पादप को सम्बोधित कर कही गई हैं।[1]

ऋग्वेद की प्रारम्भिक और पुराणों की उत्तरकालीन उपासना के बीच एक बड़ी खाई है; किन्तु उसमें रोचक बात यह है कि उन्हीं में से कुछ देवताओं ने रामायण, महाभारत के इतिहास और पुराणयुग में भिन्न आकार ग्रहण कर लिया। वायु के पिता रुद्र को परवर्ती पुराणों में दूसरा नाम शिव का दिया गया, जो वैदिक सूक्तों में बिल्कुल ही अज्ञात है।

सूर्य का प्रतिरूप विष्णु नामक देवता भी एक आदित्य ही है। त्रिमूर्त्ति में उसका दूसरा स्थान है। उसकी उपाधि 'त्रिविक्रम' है जो सूर्य की तीन स्थितियों की ओर सङ्केत करती है। इसी सन्दर्भ ने विष्णु के चतुर्थ अवतार की कथा का सर्जन किया जिसमें वह वामनवेष में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश, तीनों लोकों को पैरों से नापते हैं और इन्द्र के प्रभुत्व को धमकाने वाले राजा बलि को तलातल में शरण लेने को विवश कर देते हैं।

सामाजिक स्थिति

सूक्तों में बहुशः वर्णित उपासना के क्रम, तथा धान्य एवं पशु-विषयक याचनाओं से यह अनुमान होता है कि उस समय के लोग

---

१. विलसन – ऋग्वेद—१–पृ. २६।

घूमने-फिरने वाले बंजारे और चरवाहे थे। यदि सूक्तों का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाय और संस्कृत भाषाविज्ञान की वर्तमान प्रगति को ध्यान में रखा जाय तो उपर्युक्त तर्क सर्वथा भ्रम-मूलक प्रतीत होता है। प्रत्युत यह संग्रह इसका पर्याप्त प्रमाण देता है कि ऋग्वेदकालिक हिन्दूजाति ग्रामों और नगरों में रहती थी। लोग शिल्पकार थे क्योंकि कपड़े बुनना, धातु पिघलाना, सोने और लोहे के कवचों का बनाना, आभूषण गढ़ना आदि व्यवसायों का अनेक बार उल्लेख मिलता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनमें मल्लाह और व्यवसायी मनुष्य भी थे। विदेशी द्वीप में जहाज़ से यात्रा करने का एक सूक्त[1] में उल्लेख है:—

"अश्विन के एक मित्र तुग्र ने अपने पुत्र भुज्यु को समुद्र-यात्रा के लिये भेजा। वह इतना व्याकुल हुआ जैसे एक मरणासन्न मनुष्य सम्पत्ति से विलग होने पर होता है, किन्तु अश्विन ! तुम अपनी समुद्र में तैरती नाव में पानी को दबाते हुए उसे वापिस ले आये। तीन दिन और तीन रात नासत्यों ने भुज्यु को सौ पहियों और छः घोड़ों से युक्त शीघ्रगामी जलयान के द्वारा समुद्र तट पर पहुँचाया। हे अश्विन! सहारा देने योग्य, ठहरने योग्य या अवलम्बन करने योग्य जहाँ कुछ भी न था ऐसे भीषण समुद्र में भी अपनी शत-डाँड वाली नाव खेकर भुज्यु को अपने पिता के घर पहुँचाने का पराक्रम तुमने कर दिखाया।"...

उन लोगों के पास संगीत वाद्य होते थे; वे दवाई देते और एक-एक क्षण की गणना रखते थे। इन सूक्तों में उनके जीवन की सुव्यवस्थितता का प्रभूत प्रमाण मिलता है। क्रय-विक्रय के नियम ही नहीं, अपितु दाय-भाग सम्बन्धी पेचीले नियम भी उस समय

---

१. ऋग्वेद–१–११६, ३.

मिलते थे जैसे आगे चलकर हिन्दुओं के सुसमृद्ध समय में। उदाहरणार्थ, धर्मशास्त्र में केवल पुत्र ही पितृधन का अधिकारी होता था। कन्या बिल्कुल ही परे रखी जाती थी, क्योंकि वह दहेज के नाम से दूसरे घर धन ले जाती है। किन्तु वास्तविक अधिकारी पुत्र के अभाव में पुत्री का पुत्र श्राद्ध आदि कर सकता था; और सम्पत्ति का अधिकारी भी हो सकता था—यदि विवाह के समय पिता ने अपनी कन्या का पुत्रिकाकरण घोषित कर दिया हो।[1] वही विधान निम्नलिखित मन्त्रों में कहा गया है :—"पुत्रहीन पिता दौहित्र का उल्लेख[2] करता है और कन्यादान की विधि में श्रद्धा रख अपने जामाता को बहुमूल्य उपहार दे उसका सत्कार करता है। पुत्री के सगर्भा होने की आशा लिये वह निश्चिन्त हो जाता है। औरस पुत्र अपनी पैतृक सम्पत्ति भगिनी को नहीं देता, वह अपनी भगिनी को पति द्वारा आहित गर्भ का आधार बनाता है। यदि वह दम्पति पुमान् अथवा स्त्री अपत्य प्राप्त करता है तो उनमें से एक धर्मकृत्य का निर्वाह करने का अधिकारी है और अन्य उपहार का।[3]"

स्पष्ट है इतना उन्नत सामाजिक जीवन दोष व त्रुटियों से रिक्त नहीं रह सकता। सूक्तों में चोरी, डकैती, जुआखोरी, अवैध सन्तति के जन्म और गणिका के साथ युवकों के सम्पर्क आदि का भी उल्लेख मिलता है।

---

१. कोलब्रुक—डायजेस्ट - ३-१६१; तथा गोल्डस्टुकर - संस्कृत-कोश-'अपुत्रिका'।

२. स्मरण रहे—'अस्यां जायमानः प्रथमः पुत्रः स मे स्यात्।'

३. ऋग्वेद - ३ - ३१ - १ - २ (विल्सनकृत अनुवाद)।

वेद – अपौरुषेय ?

ऋग्वेदसंहिता जैसी आज है वैसी ही सदा थी—इस मान्यता पर अथवा वस्तुतः वेदों को नित्य बताने वाले भारतीय सिद्धान्त पर ही प्राचीन भारत की धार्मिक और सामाजिक अवस्था का उपर्युक्त दिग्दर्शन आधारित है। आरम्भ में हमने पुराणों से कुछ वचन उद्धृत किये हैं जिनसे प्रतीत होता है कि हिन्दूधर्म की ये उत्तरकालीन रचनाएँ वेदों को ब्रह्मा के द्वारा प्रणीत मानती हैं। यह भी बताया जा चुका है कि प्राचीन शास्त्रकारों ने सूक्तों के निर्माताओं को ईश्वर-प्रेरित ऋषि बताया है जिन्हें वेद देवताओं से उपलब्ध हुए। म्योर ने संस्कृत भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी एक रोचक एवं विस्तृत पुस्तक में वेदों के शाश्वत होने के सिद्धान्त के साधक और भी अनेक प्रमाण दिये हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन दार्शनिक रचनाओं में भी यही मान्यता सर्वत्र पाई जाती है। अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस धार्मिक ग्रन्थ के भिन्न भिन्न संस्करणों में दीखने वाले अन्तर को बड़ी निपुणता के साथ उदात्त तर्कों के बल निराकृत करने की भारतीय विद्वानों ने चेष्टा की है। कहा जाता है कि 'प्रत्येक प्रलय में वैदिक ग्रन्थ लुप्त हो जाते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर में उनका पुनः दैवी प्रादुर्भाव होता है। इससे केवल वाक्यशैली में ही भेद होता रहा, मूल में नहीं। वेदसंहिता में अनेक पाठान्तर मन्वन्तर-भेद के कारण हैं। इन्हें ऋषिगण अपनी विशेष सिद्धि के कारण स्मरण रखते रहे।'[1] संक्षेपतः—इस मत के अनुसार हिन्दू ऋषियों ने कई पाठ-भेद माने हैं, जो सब प्रथम प्रादुर्भाव की ही पुनरावृत्तियाँ हैं, और सकल धर्मग्रन्थ की आधारशिला हैं।

---

१. म्योर – मूल संस्कृत ग्रन्थ – भाग ३, पृष्ठ २३१ – ३२।

ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की मौलिक समकालिकता नितान्त ही असम्भाव्य है जिसके सम्बन्ध में हिन्दू प्राचीन सभ्यता का एक अब्राह्मण अध्येता शायद ही कुछ निरूपण कर सके। इन सूक्तों को पढ़ते समय वह पाठक अवश्य ही पायगा कि कुछ सूक्त तो प्राचीन सभ्यता का और कुछ, जैसा कि देखा जा चुका है, सामाजिक व्यवस्था एवं जीवन की उलझी समस्याओं का वर्णन करते हैं। कहीं धार्मिक जीवन का प्रथम विकास प्रदर्शित है तो कहीं दीर्घकालीन मनन के फलस्वरूप कोई परिपक्व विचार अथवा धार्मिक प्रगति का आरम्भ या अन्त प्रकट किया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह ब्राह्मणों के प्राचीनतम प्रमाणग्रन्थ ऋग्वेद-संहिता का क्रमिक और ऐतिहासिक प्रगति देख सकता है। किन्तु एक ब्राह्मण अध्यवसायी भी इस विषय में उदासीन नहीं रह सकता क्योंकि सूक्त स्वयं ही वेदों की शाश्वतता की कल्पना काट देते हैं। वास्तव में यह कल्पना पौरोहित्य काल अथवा प्रयोग-प्रधान युग में बनी है। उदाहरणार्थ, कई अंश ऐसे हैं जिनमें ऋषियों ने स्वयं ही अपने को सूक्तों का 'द्रष्टा' ही नहीं वरन् 'लेखक' या 'निर्माता' या 'जन्मदाता' कहा है। एक स्थल पर देखने में आता है—'यह सूक्त ऋषियों ने देवताओं के लिये बनाया"। अन्यत्र कहा गया है—"हे इन्द्र ! यह पवित्र सूक्त गौतमों ने तुम्हारे लिये बनाया।" कहीं ऐसे वचन भी मिलते हैं—"धन की कामना से तुम्हारे प्रीत्यर्थ ऋषिगण ने इस सूक्त की रचना की जिस तरह एक निष्णात रथकार रथ निर्माण करता है।" "उपर्युक्त सूक्त का निर्माण गृत्स्नमदों ने सुरक्षा की कामना से किया जैसे सत्पुरुष सड़कों का निर्माण करते हैं"; "ऋषियों ने इस पुण्य भूमि की स्तुति में यह पवित्र सूक्त

बनाया" ; "ए प्राज्ञ जातवेदस् अग्नि ! तुम्हारे लिये इस सूक्त की सृष्टि की, तुम इसे कृपा कर स्वीकार करो।"……ऐसे अनेक उदाहरण वेद में उपलब्ध होते हैं।[1]

म्योर ने अन्य सूक्तों में कहा है कि………"ऋग्वेद, के उद्धरणों में या तो समकालिक ऋषियों की और प्राचीनतर ऋषियों की स्पष्ट रूप से पहिचान दी हुई है या उनमें एक श्रेणी अथवा दूसरी श्रेणी में आने वाले ऋषियों का किसी न किसी प्रकार निर्देश किया हुआ है। यह परम्परागत ऋषियों का अभिज्ञान वेद में एक ऐतिहासिक मूल स्थापित करता है।" यदि यह अनुक्रम केवल कवियों का ही होता तो ब्राह्मणों के दृष्टिकोण के अनुसार पूर्वोक्त सिद्धान्त से वह सम्भवतः असङ्गत नहीं होता, परन्तु यह अंश कथोपकथन के साथ ग्रथित मिलता है जिससे वस्तुतः उनकी समसामयिकता की सम्भावना दूर हो जाती है।

उदाहरणार्थ—"ये देवता जिनका उपक्रम केवल पूज्यभावना से हुआ, पूर्णरूप से निर्दोष थे। उन्होंने वायु तथा पीडित मनु के लिये उषा को निकलने और सूर्य को चमकने की प्रेरणा दी", अथवा "तर्पण करते हुए स्यवस्व का भाषण तुम अवश्य सुनो जैसे धार्मिक अनुष्ठान करते हुए अत्रि का भाषण तुमने सुना था।"

अतः कोई भी मत लिया जाय, यह स्पष्ट है कि वर्तमान ऋग्वेद-संहिता को बनाने वाले १०२८ सूक्तों की संग्रहव्यवस्था भिन्न-भिन्न काल में की गई और इन विभिन्न युगों की जानकारी के विना प्राचीन भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन का विकास नहीं समझा जा सकता। हो सकता है कि अन्यथा उनकी वास्तविक तिथि भाषाविज्ञानानुसन्धान होने पर भी उतनी ही अज्ञात रहे

१. म्योर – 'मूल संस्कृत ग्रन्थ' – भाग ३ – पृष्ठ – १२८ – १५०।

जितनी अब तक रही है। यत्र तत्र घटनाओं का वर्णन या वरेल्ब अथवा सार्वजनिक संस्थाओं की ओर सङ्केत, स्थान-स्थान पर धार्मिक विचारों के विवरण तथा अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन उन-उन सूक्तों में तिथिसम्बन्धी अनुमान के लिये अवकाश देते हैं; परन्तु ऐसे सिद्धान्त की दृढ़ प्रामाणिकता व्यक्तिगत भावनाओं और दृष्टिकोण पर निर्भर रहती है। अतः उन सूक्तों से ही अबाध आधार मिल सकता है जहाँ ऋषि ने अन्य सूक्त के निर्माता अपने किसी पूर्वज का निर्देश किया हो, अथवा ऋग्वेद में अन्य स्थलों पर आई हुई पौर्वकालिक घटनाओं का उल्लेख किया हो, क्योंकि उन्हीं सूक्तों के द्वारा पूर्वापर क्रम स्थापित करना सम्भव हो सकता है। ऐसे उदाहरण प्रायः दुर्लभ हैं। अत एव विभिन्न सूक्तों की भाषा के आधार पर ही प्रमाण एकत्र किये जा सकते हैं। परवर्त्ती युग में की गई सूक्तों की व्यवस्था से उत्पन्न सम्भ्रम के विरुद्ध वास्तविकता के द्योतक ये ही प्रबल स्मारक हैं। अभी तक वैदिक-युग के क्रमिक विकास के अध्ययन में संस्कृत भाषा-विज्ञान ने बहुत ही अल्प, अथवा नहीं सी सहायता दी है। आधुनिक काल में भी भारतीय विद्वानों द्वारा दिये वैदिक शब्दों के परम्परागत अर्थों को और वैदिकी टीकाओं की व्याकरण-सम्बन्धी व्याख्या को यथावत् स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि पारम्परिक जनश्रुतियों में मनचाहे अर्थ लगाये गये हैं जो उन प्राचीन पुस्तकों को समझने के लिये एकमात्र वास्तविक साधन हैं।

सामवेद

शेष दो वेदों की संहिताओं का निरीक्षण करने पर इस ओर विशेष ध्यान आकर्षित होता है कि वे किस उद्देश्य से संगृहीत

की गईं अथवा किस लिये ऋग्वेद-संहिता से पूर्णतः अथवा अधिकांश उद्धृत की गईं। हमारी समझ से इसका कारण भक्ति-परायणता तथा कर्मानुष्ठान था। सोमयागों में साम गाये जाते थे। स्टीवेन्सन द्वारा सामवेद के अनुवाद की भूमिका में सोम रस के निर्माण की तथा देवता पर चढ़ाने की विधि का संक्षिप्त वर्णन दिया हुआ है—"पहिला कार्य सोमवल्ली और यज्ञिय अग्नि प्रज्वलित करने के लिये अरणि का संग्रह है। यह संग्रह पौर्णिमा की रात्रि में पर्वत की चोटी पर करना होता था। सोमवल्ली जड़ से उखाड़ी जाती थी, काटी नहीं जाती थी। पत्तियाँ अलग करने के बाद खाली शाखाएँ दो मेंढ़ों या दो बकरों से खींची जाने वाली गाड़ी में रख यजमान के घर लाकर बलि-गृह में रखी जाती थीं। ब्राह्मण उन्हें पत्थरों से कुचलने के बाद लकड़ी के दो तख्तों के नीचे रख निचोड़ते ताकि उनमें से रस पूरी तरह निकल आय। फिर शाखाएँ और निचोड़ा हुआ रस बकरी के बालों से बने एक छन्ने में रखा जाता, उन पर पानी छिड़का जाता और पुरोहित उन्हें अंगुलियों से निचोड़ते। ये ब्राह्मण एक या दो अंगुलियों में चौरस अंगुठियां पहिनते थे। पानी से मिला रस छन्ने में से निकल कर नीचे रखे द्रोणकलश में गिरता। यह कलश यज्ञवेदी के योनि नामक स्थान पर रखा जाता था। द्रोणकलश के इस जल-मिश्रित रस में यव, घृत, नीवार, और तृण-धान्य मिलाया जाता। मराठी में इसे वारि कहते हैं। फिर जब तक वह मदिरा में परिणत न हो वह धूप में रखा जाता। तत्पश्चात् देवता को चढ़ाने के लिये वह स्रुक् में और ब्राह्मण पुरोहितों के उपयोग के लिये चमस् में निकाल कर रख लिया जाता था। ये कलश, स्रुक् और चमस् खेरवृक्ष की लकड़ी से बनाये

जाते थे। भाष्य में इन परिशोधक विधियों के लिये ६ दिन बताये गये हैं। नित्य तीन आहुतियाँ दी जाती थीं, एक प्रातःकाल में, एक मध्याह्न में और एक रात्रि में।"

इस प्रकार के सोम-याग अगणित थे।[1] उनमें मुख्य ज्योतिष्टोम था। उसके पूर्णानुष्ठान में सात संस्थाएँ होती थीं और प्रत्येक संस्था कई दिन की होती थी।

सम्भवतः परिस्थिति की आवश्यकता को देखते हुए मीमांसक केवल अग्निष्टोम को ही मानते थे। यह ज्योतिष्टोम की प्रथम संस्था है और वह उक्त याग में अनिवार्य है। शेष छः अत्यग्नि-ष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम और वाजपेय को वे ऐच्छिक एवं अनावश्यक मानते हैं।

विन्डिशमन का कथन है[2] "सोम-याग निस्सन्देह प्राचीन भारतीय उपासना की अत्यन्त आवश्यक और पवित्र बलि थी। रस के टपकने की ध्वनि को वे पुनीत सूक्त मानते थे। समर्पित मदिरा का देवता पान करते हैं तथा उसकी लालसा भी रखते हैं। इस मदिरा से उन्हें स्फूर्ति मिलती हैं और वे एक आनन्दपूर्ण उन्माद में विभोर हो जाते हैं। इस आसव के प्रभाव से इन्द्र महान् कार्य करता है और अश्विन, मरुत् तथा अग्नि के साथ भी यही अवस्था है।

यह आसव दिव्य है। यह पवित्र करने वाला और मद्यसार से अधिक प्रसन्नता देने वाला है। इसने शुक्र को उन्मत्त कर दिया। जीवन के लिये यह रस-रूप है, रक्षक और पोषक

---

१. किटेल—'यज्ञसम्बन्धी विचार'–मेंगलोर (१८७२)।

२. विण्डिशमन—"आर्यों के सोमयाग पर निबन्ध"।

है। यह स्वास्थ्यप्रद है और अमरत्वदायक। यह स्वर्ग जाने का मार्ग बनाता है और शत्रुओं का विनाश करता है।

सामवेद में दो प्रकार का सोम बतलाया गया है—एक हरा और दूसरा पीला। इनमें सुनहरे वर्ण का सोम अधिकतर प्रयोग में लाया जाता है"।

सोमवल्ली के आनन्ददायक और मदमत्त बनाने वाले गुणों की परख यदि देवता को सम्बोधित काव्यमय स्तुतियों से हटाकर की जाय तो यह जानना अत्यन्त सरल हो जाता है कि उस समय की जनता उनके प्रभाव को जानकर उन्हें भय की दृष्टि से देखती थी और उन्हें रहस्यमय समझती थी।

पहिले बताया जा चुका है सारे साम ऋग्वेद-संहिता से लिये गये हैं। अब यह बताया जा सकता है कि किस कृत्रिम रीति से ये पूर्वोक्त प्रयोजन को लक्ष्य कर एकत्र किये गये तथा संहिता के नाते उनका कितना स्वल्प मूल्य है।

सामवेद-संहिता के दो पृथक् खंड हैं। प्रथम खंड में ५८५ और द्वितीय में १२२५ साम हैं।[1] प्रथम खंड के साम की संग्रह-व्यवस्था ५६ दशति में की गई है और उनका प्रपाठक तथा अर्धप्रपाठक में पुनः विभाजन किया गया है। दूसरा खण्ड भी प्रपाठक और अर्धप्रपाठक में विभाजित है परन्तु अधिकतर ये तीन-तीन साम के गुच्छक हैं जिसका प्रथम अंश आर्चिक-विभाग में दिया हुआ है; अतः यह भाग सामवेद-संहिता में दो बार आता है। पहले साम को योनि-साम कहते हैं जिससे दो

१. प्रथम खण्ड की संज्ञा है 'आर्चिक' अथवा 'छन्दोग्रन्थ' और दूसरे खण्ड की संज्ञा है 'स्तौभिक' अथवा 'उत्तरग्रन्थ'।

अन्य 'उत्तर' नामक साम की उत्पत्ति होती है। कारण यह है कि पहिले साम के गायन में जैसे भी आरोह-अवरोह आदि रूपान्तर होते हैं वैसे ही दूसरे साम के गायन में भी आरोह-अवरोह, स्वरों के मात्रिक अन्तर और विराम होने चाहिये। इन रूपान्तरों की शिक्षा आर्चिक विधान को प्रतिपादन करने वाली वेयगान और अरण्य गान, तथा स्तौभिक-रचना के अन्तर्गत ऊहगान और ऊह्यगान नामक गानसंहिताओं में दी हुई है। आर्चिक-खंड में ऋचाएं मूल से अलग करके दी गई हैं किन्तु स्तौभिक में उन उद्धरणों की अविच्छिन्नता कहीं अधिक मात्रा में पाई जाती है।

ह्विटनी के एक परम उपयोगी सारसंग्रह[1] में दिखाया गया है कि ऋग्वेद से ये उद्धरण किस अनुपात में लिये गये थे। दोनों संग्रह की तुलना पाठक को इस निष्कर्ष पर पहुँचा देती है कि सामवेद के संग्रह-कर्ताओं ने ऋचाओं के मौलिक स्वरूप एवं रचना-सम्बन्धी मूल्य की ओर नितान्त ही अनवेक्षा की, और ऋषियों के विचारों के अखण्ड रूप का कोई आदर नहीं किया और न उनकी रचनाओं के उद्देश्य की ओर ही ध्यान दिया।

यजुर्वेद

यजुर्वेद संहिता को सौन्दर्य के नाते प्रशंसा का इतना स्वल्प अंश भी नहीं दिया जा सकता। सामवेद के समान यह भी कर्मकाण्डी ग्रन्थ है। इसमें भी बहुत सा अंश ऋग्वेद का लिया हुआ है। परन्तु इसमें पहिला अन्तर यह है कि इसका विषय पूर्णतया ऋग्वेद से नहीं लिया गया है, और दूसरा यह कि बीच-बीच में

---

१. वेबर – इण्डिशे स्टुडियन – भाग २।

गद्य-वाक्य भी सूक्तों के साथ दिये गये है। इन गद्य-वाक्यों को यजुः कहते हैं; इन्हीं से ग्रन्थ का नाम भी यजुर्वेद पड़ा है। इसके अतिरिक्त, जिस विधि के लिये यह वेद बनाया गया वह सामवेद की विधि से अत्यन्त भिन्न और अधिक विस्तृत थी। ऋग्वेद में जहाँ-तहाँ आये आध्यात्मिक और दार्शनिक संकेत, जो पिछले भाग में दिये हुए हैं, यजुर्वेद में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसके नाम से ही प्रतीत होता है यह यज्ञ-सम्बन्धी वेद है। क्योंकि उस युग में हिन्दू सभ्यता मूढ़ विश्वास एवं शास्त्रोक्त संस्कारों से व्याप्त थी, और क्योंकि ऋग्वेद में संस्कार-विधि का कोई क्रमिक नियम स्थिर नहीं है, यजुर्वेद को ऋग्वेद से अधिक आवश्यक एवं मुख्य मानने का कारण समझ में आ जाता है। चार शताब्दी पूर्व वेदों के टीकाकार सायणऋषि ने ऋग्वेद और सामवेद संग्रह को यजुर्वेद से कम महत्त्व का माना है। उन्होंने तैत्तिरीय-संहिता की प्रस्तावना में कहा है कि ऋग्वेद और सामवेद मानो चित्र हैं और यजुर्वेद भित्ति है जिस पर वे चित्रित हैं। इस वेद के प्राचीनतम रूप (recensions) से सम्बद्ध कल्पसूत्र मीमांसकों के सिद्धान्तों के आधार हैं। मीमांसाशास्त्र के प्रणेता जैमिनि के सूत्रों पर ये अपना मत स्थापित करते हैं।

इस वेद के इतिहास में उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण विषय शाखा-भेद है जो अन्य वेदों में नहीं मिलता। इसकी दो शाखाएँ हुईं—एक का नाम रखा गया कृष्णयजुर्वेद व दूसरी का शुक्ल-यजुर्वेद। विष्णुपुराण में (तथा उसी प्रकार वायुपुराण में भी) इस शाखा-भेद की मूल-उत्पत्ति की कथा इस प्रकार दी हुई है—"ब्रह्मराति के पुत्र याज्ञवल्क्य वैशम्पायन ऋषि के शिष्य थे। वे धर्म के पूरे ज्ञाता थे और गुरु की आज्ञा पालन

करने में सदा तत्पर रहते थे। पहिले से ही मुनियों में यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया था कि यदि उनमें से कोई भी निश्चित विशिष्ट दिन मेरु पर्वत पर सभा में अनुपस्थित रहेगा तो उसे सात दिन के अन्दर-अन्दर ब्रह्म-हत्या का पाप लगेगा। वैशम्पायन ही ऐसे एक व्यक्ति थे जिन्होंने इस रूढि का उल्लङ्घन किया। उसी के फलस्वरूप उनके चरण-स्पर्श से अपने भागिनेय की मृत्यु हो गई। तब उन्होंने शिष्यों को अपनी ओर से प्रायश्चित्त करने को कहा ताकि वे इस पाप से छूट जाँय। इस कार्य में किसी प्रकार का विकल्प करने का भी उन्होंने निषेध कर दिया था। याज्ञवल्क्य ने उनसे कहा—'तात, इन निस्तेज और दुर्बल ब्राह्मणों की क्या आवश्यकता है, मैं अकेला ही प्रायश्चित्त कर लूँगा।' इस पर उस विद्वान् गुरु को क्रोध आ गया और उन्होंने याज्ञवल्क्य से कहा—'अरे ब्राह्मण-निन्दक, जो कुछ भी विद्या तूने मुझसे सीखी है, वापिस कर दे। मुझे तुझ जैसे आज्ञा न मानने वाले शिष्य की कोई अपेक्षा नहीं, जो तेरी तरह इन विशिष्ट ब्राह्मणों को दुर्बल कह कर कलङ्कित करे।' याज्ञवल्क्य ने प्रत्युत्तर में कहा—'जो कुछ भी मैंने कहा या किया सब आप की भक्ति के कारण ही किया किन्तु मैं भी आप से उकता गया हूँ। यह रहा जो आपसे मैंने सीखा है।' ऐसा कह उसने रक्त से भरे तत्सदृश यजुः का वमन कर दिया और उसे गुरु को दे वह स्वच्छन्दता से चला गया। तत्पश्चात् अन्य शिष्यों ने तित्तिरी का स्वरूप धारण कर यजुःग्रन्थों को एकत्र किया जिस कारण वे तैत्तिरीय कहलाये। गुरु की आज्ञा से जिन शिष्यों ने प्रायश्चित्त किया वे उस आचरण से चरकाध्वर्यु कहलाये। तब प्राणायाम में प्रवीण याज्ञवल्क्य ने यजुःग्रन्थ की प्राप्ति के लिये सूर्य की उपासना की।

सूक्त इस प्रकार है—'इन सूक्तों तथा अन्य स्तुतियों से प्रसन्न हो सूर्य ने अश्व का रूप धारण किया और याज्ञवल्क्य से कहा— 'इच्छानुसार वर माँग लो।'

याज्ञवल्क्य ने दिवस्पति के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहा— 'मुझे वह यजुःग्रन्थ दीजिये जो गुरु के पास न हो'। इस प्रकार माँगने पर सूर्य ने याज्ञवल्क्य को अयातयाम नामक यजुःग्रन्थ दिये जो उनके गुरु को ज्ञात नहीं थे। इन ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले वाजिन कहलाये क्योंकि उस समय सूर्य ने वाजी (अर्थात् अश्व) का रूप धारण किया था।"

यह कथा चाहे कितनी भी अयुक्तियुक्त मानी जाय, यजुर्वेद की दोनों उपलब्ध संहिताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लयजुर्वेद कृष्णयजुर्वेद के बाद का है, और उसमें कई सुधार भी किये हुए हैं। यह तर्क-सिद्ध है कि एक विद्यमान ग्रन्थ का तब तक खण्डन नहीं किया जा सकता जब तक उसके मानने वाले तथा दूसरी पुस्तक के रचयिताओं में कुछ न कुछ मत-भेद न हो। इस प्रकार के सुधार का कारण समझने के लिये पुराने ग्रन्थ का अवलोकन आवश्यक हो जाता है।

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक वेद में दो भाग हैं—एक में सूक्तों का संग्रह है जिसे संहिता कहते हैं; दूसरे भाग को ब्राह्मण कहते हैं जिसका उद्देश्य उन विधियों की व्याख्या करना है जिनके विनियोग में सूक्तों का प्रयोग किया जाता था। यह विभाजन विशुद्ध रूप से ऋक् और सामवेद तक ही रहा है। तैत्तिरीय-संहिता या कृष्ण-यजुर्वेद में यह बहुत ही अस्पष्ट रूप में है। उसमें सूक्त और विधि की व्याख्या मिला कर दी गई है। वास्तव में यह संहिता अध्वर्यु की

मार्गप्रदर्शिका है। होता और उद्गाता को अपने-अपने कल्पसूत्रों का अध्ययन करना होता है ताकि वे यह जान सकें कि किस अवसर पर कौन सा सूक्त उपयुक्त है। तैत्तिरीय संहिता का यह मिश्रित स्वरूप ही सम्भवतः 'कृष्ण' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है जो यजुर्वेद की प्राचीनतम संहिता का विशेषण है। इसका वास्तविक नाम तैत्तिरीय है जिसका शब्दार्थ 'तीतर की' है; अतः ऊपर कही व्युत्पत्तिविषयक कथा का मेल इसके साथ असङ्गत नहीं रहता। कथा में कहे हुए 'कृष्ण' शब्द के द्वारा द्योतित अशुद्ध स्वरूप, ऋषि याज्ञवल्क्य प्रणीत शुक्ल-यजुर्वेद के द्वारा हटा दिया गया है; कारण इसमें संहिता और ब्राह्मण अलग-अलग दिये हुए हैं।

पूर्ण रूप से देखने पर दोनों संग्रहों में वर्णित विषय एक ही हैं परन्तु स्थान और विस्तार में भेद है। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में दिये अश्वमेध यज्ञ का वर्णन यजुर्वेद में अतिविस्तार से दिया हुआ है। भिन्न-भिन्न वर्णन वाले, घरेलू और वन्य, दोनों प्रकार के ६०६ पशु, जिनमें पक्षी और रेंगने वाले भी हैं, २१ खंभों में बाँधे जाते थे। यज्ञ के अनुष्ठान में प्रयोगों का कालभेद इस वेद के निर्माणकालिक संस्कारों के पेचीलेपन की कल्पना करा देता है। अन्य वेदों में अवर्णित यज्ञों में एक लाक्षणिक यज्ञ पुरुष-मेध[1] है। इसमें भिन्न भिन्न जाति, भिन्न भिन्न प्रकृति एवं भिन्न-भिन्न व्यवसायों के १८५ पुरुष ११ खम्भों से बाँधे जाते थे और अलग-अलग देवताओं को सर्व-मेध या पितृ-मेध में अर्पित किये जाते थे। यह भी निरूपणीय विषय है कि यजुर्वेद में चारों जातियों का उल्लेख है; जिनका निश्चित रूप से

---

१. जर्नल एशियाटिक सोसायटी – बङ्गाल – भाग १४-१-७६

ऋग्वेद में उल्लेख नहीं पाया जाता; साथ ही साथ यजुर्वेद में महाभारत, रामायण और पुराणों में वर्णित शिव के कई पर्यायवाची शब्द भी दिये हुए हैं। यही शिव आगे चल कर त्रिमूर्त्ति में तीसरा देवता (महेश) माना गया।

कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता सात काण्डों में विभक्त है। इसमें ४४ प्रपाठक हैं और सब मिलाकर ६५१ अनुवाक हैं जो २१६८ कण्डिकाएं हैं। माध्यन्दिन शाखा की वाजसनेय संहिता ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक और १६७५ कण्डिका में विभक्त है। इस वेद से सम्बद्ध अन्य शाखाओं के भिन्न प्रकारों के विभागों का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होती।

अथर्ववेद

अथर्ववेदसंहिता साम और यजुर्वेद संहिताओं के समान याज्ञिक संग्रह नहीं है। यह २० काण्डों में विभक्त है और इसके पहिले १८ काण्ड में ३४ प्रपाठक हैं जिसमें ६४ अनुवाक हैं। १७ वें काण्ड में एक ही प्रपाठक है और इसके प्रविभाग नहीं हैं। उन्नीसवाँ काण्ड प्रपाठकों में नहीं, केवल ७ अनुवाकों में ही विभक्त है। २० वें काण्ड में ६ अनुवाक हैं और इसके तीसरे अनुवाक में ३ पर्याय हैं। अनुवाकों में लगभग ६००० मन्त्र हैं। अथर्व-संहिता के विद्वान् सम्पादक ह्विटनी[1] का मत है—

'इसके पहिले १८ काण्ड आद्योपान्त एक ही प्रणाली से रचित हैं। वर्गीकरण का आधार न प्रतिपाद्य विषय है और न उनका तथाकथित रचयिता ही; अपि तु सूक्तों की दीर्घता ही

---

१. जर्नल अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी – भाग ४ – पृ. २५४।

एक मात्र कारण है। लगभग समान संख्या वाले सूक्त काण्डों में संकलित किये गये हैं; लघु सूक्तों वाले काण्डों को क्रम में प्रथम स्थान दिया गया है। सम्पूर्ण संहिता में षष्ठांश छन्दोबद्ध नहीं है किन्तु वह छोटे-बड़े गद्य-वाक्यों में रचित है जिसकी भाषा एवं लेखनशैली ब्राह्मण ग्रंथो से मिलती-जुलती हैं। शेष छन्दोबद्ध भाग का लगभग छठाँ अंश ऋग्वेदीय सूक्तों में मिलता है, विशेष कर उसके दशम मण्डल में। शेष भाग अथर्ववेद का ही अपना विशिष्ट अंश है। उसके निर्माता के विषय में पुराणों से कोई महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं मिलती; कुछ अपवादों को छोड़ काल्पनिक पुरुषों को ही उनका रचयिता बताया गया है।

'अथर्व सूक्तों के आभ्यन्तर निरूपण से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के समान यह भी मूल ऋग्वेद से भिन्न उत्तरकाल की रचना है तथा उनमें ऋग्वेद के प्रारम्भिक सूक्तों से भिन्न प्रवृत्ति भी पाई जाती है। ऋग्वेद में देवताओं के प्रति सादर भय किन्तु प्रेम और विश्वास के साथ उपासना प्रस्तुत की गई है। आहुति देने से देने वाले की उन्नति होती है। दानवों को राक्षस के नाम से कहा गया है और उन्हें भय की दृष्टि से देखा जाता है। देवता इनका विनाश करते हैं। आथर्वण देवता के प्रति चाटुतायुक्त भय की भावना हैं, वे ऐसी शक्ति हैं जिनके क्रोध को विफल कर प्रसाद प्राप्त करना होता है। इसमें भूत-पिशाचों के समुदाय का उल्लेख उनकी भिन्न-भिन्न स्थिति और श्रेणी के अनुसार दिया गया है, और स्पष्ट रूप से उनकी पूजा का विधान है जिससे सन्तुष्ट हो वे किसी प्रकार की हानि न करें। प्राचीन वेद में मन्त्र जो भक्ति का साधन था इसमें मूढ विश्वास का उपकरण है। जो अनुग्रह ऋग्वेद में देवता यजमान के प्रति

अपनी सुमति के कारण करते, अथर्व में अनिच्छा से बलात् प्रेरित हो करते हैं। कहीं-कहीं तो केवल जादूगरी से ही वक्ता की कामना पूरी हो जाती है। अथर्ववेद का प्रधान गुण है जादू और टोनों के मन्त्रों का बाहुल्य। उनका उच्चारण या तो लाभ का इच्छुक पुरुष करता है या उसकी ओर से कोई मान्त्रिक। ये मन्त्र इच्छित पदार्थों की अधिकाधिक प्राप्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। अधिकतर दीर्घायु की कामना अथवा भयानक रोगों से छुटकारा ही उनका विषय होता है। कभी कोई तावीज़ (गण्डा) हार की तरह दे दिया जाता है; कहीं-कहीं कोई अलौकिक गुणयुक्त पौधा बाह्य चिकित्सा का साक्षात् साधन होता है। इसके अतिरिक्त धन अथवा शक्तिप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य पाया जाता है। कभी शत्रु का पराजय, प्रेम या द्यूतादि क्रीड़ाओं में साफल्य, क्षुद्र महामारी से छुटकारा आदि और यहाँ तक कि गंजे के मस्तक पर बालों का उगना भी इन मन्त्रों का विषय होता है। कुछ सूक्त उसमें ऐसे हैं जिनमें किसी एक प्रयोग को ले उसे प्रयत्नपूर्वक उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं जैसे ऋग्वेद के पवमान्य सूक्त में सोम को। अन्य गभीर विचारात्मक रहस्यपूर्ण सूक्तों की भी इसमें कमी नहीं है किन्तु प्राचीनवेद से परवर्त्ती काल में हुए हिन्दूधर्म के उत्थान को देखते हुए उनकी संख्या आशा से बहुत कम है। प्रतीत होता है कि अथर्व की उत्पत्ति का बीज याज्ञिक नहीं, किन्तु लौकिक है। वैदिक से आधुनिक काल के बीच इसका स्थान मध्यवर्त्ती है, विशेषकर अबोध जनता के मूर्त्तिपूजा सम्बन्धी तथा अन्धविश्वासी विचारों और ब्राह्मण के उदात्त विश्वदेवतावादी सिद्धान्तों के मध्य में।'[१]

---

१. वही— भाग २, पृ० २०७।

ब्राह्मणग्रन्थ

वेद के कट्टर सिद्धान्तवाद का प्रतिपादन करने वाले ब्राह्मण भाग पर सामान्य चर्चा के पश्चात् अब ब्राह्मण ग्रन्थों और उनके कुछ उद्धरणों पर एक दृष्टि डालने से संहिता और शेष वैदिक साहित्य के बीच उनका स्थान क्या है—यह निर्धारित किया जा सकता है।

ऋग्वेद के याज्ञिकों ने बह्वृच ब्राह्मण को दो संस्करणों में सुरक्षित रखा है। प्रथम है ऐतरेय ब्राह्मण—इसमें ८ पञ्चिका अर्थात् ४० अध्याय हैं जिनमें सब मिलाकर २८५ खण्ड है। दूसरा है सांख्यायन ब्राह्मण जिसे कौषीतकी ब्राह्मण भी कहते हैं। यह ३० अध्यायों में विभक्त है जिसमें पुनः कई खण्ड हैं। दोनों ब्राह्मणों में प्रतिपादित विषय एक ही है किन्तु उनकी नियम-व्यवस्था और वर्णन की भिन्नता से निष्कर्ष यह निकलता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम ३० अध्याय सांख्यायन ब्राह्मण के अध्यायों से प्राचीन हैं और चूंकि ऐतरेय के अन्तिम १० अध्यायों में दी हुई विधि दूसरे में नहीं मिलती वे सम्भवतः सांख्यायन से बाद के हैं। ये ब्राह्मण ऋग्वेद-संहिता के सूक्तों के क्रम को नहीं मानते, किन्तु उनका उल्लेख अवश्य करते हैं क्योंकि विधिप्रयोग में होता को उनकी आवश्यकता पड़ती है। इन ब्राह्मणों को प्रकाश में लाने वाली विस्तृत विधियों और उत्तरकालीन ग्रन्थों से सम्बद्ध करने वाली आध्यात्मिक विद्या के विषय में कुछ परिचय देने के लिये; पहिले, रामायण और महाभारत में कई बार दी हुई और ऐतरेय ब्राह्मण की अन्तिम अध्यायों में विस्तारसहित वर्णित 'अभिषेक' नामक एक महत्त्वपूर्ण विधि का सारांश यहाँ दिया जाता है।

राज्याभिषेक

यह विधि राजसूय यज्ञ का एक अङ्ग है जिसका अनुष्ठान यज्ञ-समाप्ति पर राजा करता है; अन्यथा यह विधि राजा के सिंहासन पर बैठने के समय की जाती है। यज्ञाङ्ग अभिषेक के लिये उदुम्बर काष्ठ का एक सिंहासन बनाना पड़ता है। इसमें ६ इंच ऊँचे चार पाये पर तख्ते रखे होते हैं, आस-पास एक हाथ चौड़े तख्ते लगे होते हैं। ये सब (मुञ्जा) मूंज की रस्सी से बाँध दिये जाते हैं। आसन पर पूर्वाभिमुख व्याघ्र चर्म सीधा बिछाया जाता है और उस पर उदुम्बर काष्ठ का एक चतुष्कोण बड़ा चम्मच और एक औदुम्बर समिधा भी रखी जाती है। चम्मच में दधि, मधु, घृत, सूर्यातप में भूमि पर गिरने से पहिले संगृहीत वर्षा-जल, श्यामा घास, नवाङ्कुर, मदिरा और दूर्वा—ये आठ वस्तुएँ होती हैं। सिंहासन-निर्माणार्थ यज्ञ-भूमि में एक स्थान पर तीन रेखाएँ—एक दक्षिण की ओर, एक पश्चिम की ओर तथा एक उत्तर की ओर—खींची जाती हैं। दक्षिण की ओर अङ्कित रेखा पर सिंहासन रखा जाता है। इसका मुख पूर्व की ओर होता है जिससे उसके उत्तर दिशा वाले दो पैर वेदी पर आ जाते हैं और दो दक्षिण की ओर उसके बाहर। सिंहासन से घिरे हुए इस हिस्से को 'श्री' कहते हैं जो सुख एवं अभ्युदय का प्रतीक है। वेदी के अन्दर का स्थान छोटा होता है, परन्तु बाहर के स्थान की कोई सीमा नहीं होती। सिंहासन का यह भाग यह सङ्केत करता है कि यजमान वेदी के अन्दर और बाहर निश्चित और असीम इच्छाओं की प्राप्ति करे। व्याघ्र चर्म सैनिक शक्ति की वृद्धि का प्रतीक है क्योंकि व्याघ्र वन्य पशुओं का नायक है। सिंहासन,

स्रुवा और उदुम्बर की शाखा पौष्टिक रस और भोजन के सङ्केत हैं; दधि मधु और घृत जल-तत्त्व व वनस्पति-तत्त्व के प्रतिरूप हैं (टीकाकार के मतानुसार—क्योंकि पशु का खाद्य तृण और पेय जल हैं, दधि और घृत इन्हीं दो से बना है; मधु पौधों के रस से मधुमक्खी द्वारा एकत्र करने पर मिलता है)। वर्षा काल में सूर्यातप रहते हुए भूमि स्पर्श से पूर्व संगृहीत जल कान्ति या शारीरिक बल का संकेत करता है। वर्षा देवताओं को समर्पित बलि का फलस्वरूप होने के कारण पवित्रता का प्रतीक है। तृण व नवाङ्कुर भोजन का सङ्केत करने के कारण समृद्धि और सन्तति के द्योतक हैं। मदिरा (क्रूरता और उग्रता के कारण), क्षत्रिय-बल का, तथा दूर्वा वनस्पति वर्ग में क्षात्र जाति की होने से और कई जड़ों के साथ पृथ्वी में स्थित होने से सैनिक बल और स्थायी राज्य का चिह्न हैं।

यज्ञ के मुख्य कार्य यह हैं—यज्ञ करने वाला राजसिंहासन के पिछले भाग की ओर झुकता है। वह पूर्वाभिमुख हो, दाहिने घुटने से भूमि को स्पर्श करता है। तत्पश्चात् वह अपने हाथ से सिंहासन छूकर उस पर बैठने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं का आवाहन करता है—अग्नि का गायत्री, सविता का उष्णिक्, सोम का अनुष्टुप्, बृहस्पति का बृहती, मित्र और वरुण का पङ्क्ति, इन्द्र का त्रिष्टुप्, और विश्वेदेव का जगती छन्द से, ताकि उसे राजकीय शक्ति, न्यायपूर्ण शासन, आनन्द की वृद्धि, स्वतन्त्र राज्य, एवं दूसरे राजाओं से गुणाधिक्य मिलें, और अन्त में ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जहाँ वह प्रभुत्व, बृहत् राज्य, अधिकार, स्वतन्त्रता तथा चिरवास प्राप्त कर सके। आवाहन के बल देवगण के उपस्थित होने पर राजा स्वयं पहले दाहिने, फिर बाएँ घुटने से सिंहासन पर चढ़ता है।

तत्पश्चात् दूसरी विधि है उदशान्ति अर्थात् स्रुव में रखे जल का अभिमन्त्रण। यह पुरोहित के द्वारा की जाती है—वह अथर्ववेद के इन सूक्तों को कहते हुए राजा के ऊपर अभिमन्त्रित जल का प्रोक्षण करता है:—'जल (आपः) ! आप मुझ पर सदा कृपादृष्टि रखें। अनुकूल रूप से मेरी त्वचा का स्पर्श करें। क्योंकि सारी अग्नियाँ आप में सन्निहित हैं, मैं आपके द्वारा उन सबका आवाहन करता हूँ। मुझे सौन्दर्य, शारीरिक-शक्ति और योग्यता प्रदान करें।' राजा भी उन्हीं शब्दों को पीछे-पीछे दुहराता है। उदक शान्ति यदि न की जाय तो जलदेव राजा के तेज को कहीं नष्ट कर दें यह भय रहता है। तदनन्तर पुरोहित राजा के सिर पर उदुम्बर शाखा रख नीचे कही तीन ऋचाओं को कहता हुआ जल प्रोक्षण करता है। (१) 'यह जल अत्यन्त कल्याणकारी है। इनमें सब व्याधियों को नष्ट करने की आरोग्यदायिनी शक्ति है। यह प्रभुत्व शक्ति और उसके सहायकों के वर्धक हैं, यह अमर हैं।' (२) 'इसी जल को प्रजापति ने इन्द्र, राजा सोम और मनु पर छिड़का था—उसी को मैं तुम पर डालता हूँ, ताकि तुम इस विश्व में राज-राजेश्वर बनो।' (३) 'तुम्हारी माता, राज-महिषी ने तुम्हें बड़ों में भी बड़ा और न्यायपरायण शासक बनने के लिये जन्म दिया; तुम्हारा जन्म एक सौभाग्यवती माता से हुआ है।' यजुर्वेद का सूक्त भी कहता है,—'दिव्य सविता ने अनुमति दे दी है, अतः मैं तुम्हारे ऊपर, अश्विन की भुजाओं से (अपनी नहीं), पूषन् के हाथों से, अग्नि के सौन्दर्य और सूर्य के तेज से तथा इन्द्र की इन्द्रियों से जल छिड़कता हूँ जिससे तुम्हें शक्ति, समृद्धि, कीर्ति एवं धान्य-वृद्धि प्राप्त हो। अन्य सूक्तों का उच्चारण कर जिनसे सोम और मदिरा एकीभूत हो जाँय, राजा मदिरा का आचमन करता है और

शेष अपने मित्रों को दे देता है। पश्चात् उदुम्बर शाखा को भूमि पर रख वह सिंहासन से उतरने को उद्यत होता है। उतरने के पूर्व, वह भूमि पर पैर रख कर कहता है—'मैं आकाश और भूमि पर, श्वासोच्छ्वास में निकलने व अन्दर जाने वाली वायु में, दिवा–रात्रि में, खान-पान के समय और जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं–उन सब तीनों लोकों पर दृढ़ता से खड़ा हूँ।' फिर वह नीचे उतर कर पूर्व की ओर मुख किए भूमि पर बैठता है और तीन बार इन शब्दों को कहता है: 'ब्राह्मण को नमस्कार।'; साथ ही साथ कुछ उपहार (सामान्यतः गाय) ब्राह्मण को दान करता है। इस उपहार का उद्देश्य हर दिशा और हर शत्रु पर विजयप्राप्ति है। तीन ब्राह्मण का नाम लेने का अर्थ है कि राज्य और योधायों की समृद्धि ब्राह्मणों के शासन में रहने से होती है और उसके शूर-वीर पुत्र होता है। राजा फिर उठता है, और यज्ञिय अग्नि में समिधा की आहुति देता है। तत्पश्चात् विहित सूक्तों को कहते हुए क्रमशः पूर्व, उत्तर और पूर्वोत्तर दिशाओं की ओर तीन पद चलता है। इसके अनन्तर वह लौकिकाग्नि के पास बैठ जाता है और अध्वर्यु पात्र में से चार बार तीन घृत की आहुति ऋचाएँ कह कर इन्द्र को देने के लिये तैय्यार कर उसे देता है।' जिस राजा के लिए यह भेंट इन्द्र को बताई हुई विधि के अनुसार दी जाती है, वह राजा व्याधि-मुक्त हो जाता है, शत्रु उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकते, दरिद्रता से वह छुटकारा पाता है और हर प्रकार के ख़तरों से उसकी रक्षा होती है, अतः वह हर तरह विजयी हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् इन्द्र के साथ स्वर्ग में वास करता है।'

राजा के सिंहासनारोहण के समय वही अभिषेक-विधि प्रयुक्त की जाती है जिसे देवताओं ने इन्द्र को अपना राजा

मान कर तिलक करते समय की थीं। शेष विधियाँ रहस्यपूर्ण एवं प्रतीकमय हैं — यथा, सिंहासन के आठ भाग सामवेद सूक्तों के बने हैं; लम्बाई वाले सूत्र जिनसे वे भाग बाँधे जाते हैं, ऋग्वेद के बने हुए हैं, आमने-सामने जाने वाले सामवेद के हैं—मध्यवर्ती यजुर्वेद-सूक्त हैं। सिंहासन पर बिछाया हुआ आसन कीर्ति देवी है, उपधान सुख की अधिष्ठात्री देवी है। सविता और बृहस्पति सामने के पैरों को सम्हालते हैं और पूषन् पिछले पैरों को; मित्र और वरुण दोनों ऊपर की छत को, और दोनों अश्विनीकुमार पार्श्ववर्ती भागों को धारण करते हैं। मानवलोक के अधीश्वर राजा का अभिषेक-संस्कार का प्रारम्भ शपथग्रहण से प्रारम्भ हुआ करता है। यह शपथ पुरोहित के द्वारा राजा को दिलायी जाती है। शपथ का स्वरूप है—'यदि मैं (राजा) कभी भी आपको हानि पहुँचाऊँ तो आप (पुरोहित) मुझे अपने जन्म से मृत्यु तक किए मेरे सारे पुण्य-कर्मों से, स्वर्ग से, जो कुछ भी शुभ किया हो उससे, दीर्घायु से और सन्तति से वञ्चित कर दें।' फिर वह अपने भृत्यों को चार प्रकार के फल लाने की आज्ञा देता है। यह चार फल न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ और प्लक्ष के होते हैं। साथ में चार प्रकार के धान्यकण, छोटे कण वाला चाँवल, बड़े कण वाला चाँवल, प्रियङ्गु और यव भी मँगवाये जाते हैं। तत्पश्चात् उसकी आज्ञा से वे उदुम्बरकाष्ठ से निर्मित सिंहासन, उदुम्बर का स्रुव या कोई पात्र और एक उदुम्बर की शाखा लाते हैं। उन भिन्न प्रकार के फलों व धान्यों को वे पात्र में रखते हैं और उस पर दधि, मधु, घृत और धूप में भूमि पर गिरने से पूर्व सञ्चित वर्षा-जल को डालते हैं। उसके अनन्तर उस चम्मच या पात्र को भूमि पर रख मन्त्र से सिंहासन

को अभिमन्त्रित कर इन्द्रासन के अङ्गों का स्मरण करते हुए उसे तद्रूप बना देते हैं। फिर पुरोहित राजा से सिंहासन पर चढ़ने के लिये कहता है और वह वसु, रुद्र, आदित्य और अन्य देवताओं को, जिन्हें इन्द्र ने अपने राज्याभिषेक के समय बुलाया था, उन्हीं छन्दों व गीतों से तथा उन्हीं कार्यों के लिए निमन्त्रित करता है। इस पर राजा के बान्धव राजा के गुणों का वर्णन उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार देवताओं ने इन्द्र की महत्ता की घोषणा की थी। फिर पुरोहित एक ऋचा बोलता है और पश्चिम की ओर मुख करके सिंहासन के आगे बैठ जाता है। गीली पत्तियों वाली उदुम्बर शाखा से और स्वर्ण पवित्र से वह राजा के शिर को ढक देता है; फिर पात्र से जल लेकर तीन ऋचाएँ, यजुर्वेद के ऊपर बताए सूक्त और तीन पवित्र शब्द—भूः भुवः स्वः—का उच्चारण करते हुए उस पर छिड़कता है। अन्त में वह स्तुति से राजा को सम्बोधित करता हुआ कहता है, 'वसु, रुद्र और अन्य देवता, जिन्होंने पूर्व, दक्षिण आदि दिशाओं में इन्द्र के लिये इस विधि का आयोजन किया था, तुम्हारे लिये भी ३१ दिन निरन्तर करें और उसी प्रभाव से करें जिससे इन्द्र के हित किया था। पवित्र तीर्थ के अंशों में न्यग्रोध अधिक विस्तृत होने के कारण वृक्षों का राजा है। छोटे कण वाला चाँवल वनस्पतियों में मुख्य शक्तिदायक है, अतः पहिले का फल और दूसरे का धान्य क्षत्रिय के विशिष्ट गुणों के प्रतिनिधि हैं। उदुम्बर के फल और प्रियङ्गु के कण प्रसन्नतावर्धक हैं; अश्वत्थ का फल और बड़े कणों वाला चाँवल न्यायपरायण धार्मिक शासन के द्योतक हैं। प्लक्ष का फल स्वतन्त्र राज्य व इतर राजाओं से विशिष्ट गुण-प्राप्ति के चिह्न हैं। यव सैनिक-नायक का, दधि ऐन्द्रिक तीक्ष्णता का

मधु वनस्पति और वृक्षों के तत्त्व का, जल मृत्यु से छुटकारे और दीर्घायु का लक्षक माना गया है। विधि की समाप्ति पर विधि कराने वाले पुरोहित को राजा दक्षिणा देता है—जैसे, सहस्र स्वर्ण निष्क, क्षेत्र एवं पशु आदि, किन्तु यह दक्षिणा पुरोहित के परिश्रम के मान से अत्यल्प मानी गई है, ऐतरेय ब्राह्मण में बताया है—'राजा को असीम अगणित उपहार देने चाहिए, क्योंकि राजा की सम्पत्ति निस्सीम है, और उसे लाभ भी निस्सीम होगा।' साथ ही साथ उसमें जिन राजाओं ने पुरोहितों को असीम सम्पत्ति दी है उनके कई उदाहरण दिए हुए हैं। दक्षिणा लेने के पश्चात् पुरोहित राजा को मदिरा का पात्र ऋग्वेद की ऋचा बोलते हुए देता है जिसमें राजा के द्वारा पी गई मदिरा को सोमरस में परिवर्त्तित करने की शक्ति होती है। अन्त में राजा कुछ और विहित सूक्तों का पाठ करता है।[1]

अभिचारविधि

अब अन्त में एक और उद्धरण देते हैं जो आभिचारिक मन्त्रसे सम्बन्ध रखता है—इसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय में मिलता है। इसका प्रयोग पुरोहित के निरीक्षण में शत्रुनाश के लिये विहित है। उसमें लिखा है—"शत्रु, बैरी, और प्रतिपक्षी—सभी इस विधि में दक्ष मनुष्य के आगे विलीन हो जाते हैं। वह जो अन्तरिक्ष में हिलता है—वायु है। इसके चारों ओर पाँच देवता विलीन होते हैं, वे हैं विद्युत्, वर्षा, सोम, सूर्य और अग्नि। विद्युत्

---

१. विशेष विवरण के लिये देखो- गोल्डस्टुकर-संस्कृत कोष 'अभिषेक'।

चमकने के बाद वर्षा के पीछे अदृष्ट हो जाती है। वह लुप्त हो जाती है और किसी को ज्ञान नहीं होता कि वह कहाँ गई। जब एक मनुष्य मरता है तो कोई नहीं जानता कि उसकी आत्मा कहाँ गई ? अत एव जब भी विद्युत् चमके इस प्रार्थना को कहो—'मेरे शत्रु नष्ट हो जाँय, वे अदृष्ट हो जाँय और किसी को मालूम न हो कि वे कहाँ गये।' शीघ्र ही किसी को मालूम न हो सकेगा कि वे कहाँ गए। वर्षा गिर कर वाष्प में परिवर्तित हो जाती है और इन्दु में अन्तर्निहित हो जाती है—आदि आदि। वर्षा समाप्त होने पर इस मन्त्र को पढ़ें—'सूर्य के साथ संसर्ग होने पर इन्दु सूर्य में विलीन हो जाता है।' अमावास्या की रात्रि में 'सूर्य अस्त होने पर अग्नि में अन्तर्हित हो जाता है···' इसका उच्चारण करो। सूर्यास्त के समय यह कहो—'अग्नि प्रज्वलित होने पर वायु में मिल जाती है···'। अग्नि बुझाने पर इस मन्त्र का उच्चारण करो—'इसी उद्गम से उन्हीं देवताओं की पुनरुत्पत्ति होती है। अग्नि वायु से उत्पन्न होती है, क्योंकि श्वासोच्छ्वास से प्रेरणा पाकर वह बढ़ती है।' ऐसा ध्यान करते हुए इस स्तुति का पाठ करो—'अग्नि को पुनर्जीवन मिले किन्तु मेरे शत्रु पुनर्जीवित न हों, वे सदा के लिए टल जायँ।' इससे शत्रु का उच्चाटन हो जाता है। 'सूर्य की उत्पत्ति अग्नि से है', ऐसा ध्यान कर कहना चाहिये—'सूर्योदय हो, परन्तु शत्रु पुनर्जीवित न हों···।'

जो उक्त विधि का अनुष्ठान करता है उसके लिए विधान निम्नलिखित है—'वह शत्रु से पहले नीचे न बैठे, किन्तु जब तक उसे खड़ा हुआ समझे, खड़ा ही रहे। शत्रु से पहले शयन न करे और जब उसे बैठा हुआ समझे तभी बैठे। वह शत्रु से पहले न सोये, किन्तु जब तक उसे जागता समझे, स्वयं जागता

रहे। फिर चाहे उसके शत्रु का सिर पाषाण का ही क्यों न हो, वह उसे शीघ्र ही मार डालेगा—अवश्य ही मार देगा।"[1]

ऐतरेय तथा अन्य ब्राह्मणों में किसी भी प्रयोग की उत्पत्ति की व्याख्या करने या उसके प्रभाव को बताने के लिये कथाएं कही गई हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कथित कई कथाओं में से एक का विशेषरूप से उल्लेख करते हैं क्योंकि उसका सम्बन्ध कई प्रकरणों से है। उसका पाठ सोने के काम के बने क़ालीन पर बैठ कर 'होता' नामक पुरोहित अभिषिक्त राजा के सम्मुख करता है, और दूसरा पुरोहित वैसे ही क़ालीन पर बैठ 'होता' के शब्दों को दुहराता है। विजयी राजा के लिए भी इस कथा का पढ़ना श्रेयस्कर बताया गया है, चाहे उसने यज्ञ का अनुष्ठान न भी किया हो। सन्तति का इच्छुक यदि इस आख्यान को भली भाँति सुने तो उसे अवश्य पुत्र-प्राप्ति हो। वह है शुनःशेप की कथा, जिसका सारांश यह है —

"प्राचीन काल में इक्ष्वाकु-वंशज वेधा का पुत्र हरिश्चन्द्र नामक राजा था। सौ रानियों के होते हुए भी उसके कोई पुत्र न हुआ। एक बार पर्वत मुनि और देवर्षि नारद उसके पास आए। नारद ने उसे पुत्र के क्या-क्या लाभ हैं वर्णन किए। तभी से पुत्र-प्राप्ति की आकांक्षा उसके मन में और बढ़ गई। नारद के उपदेश से हरिश्चन्द्र ने वरुण की स्तुति की और प्रतिज्ञा की कि यदि मुझे पुत्र प्राप्त होगा तो पुत्र की बलि उन्हें अर्पण करूंगा। वरुण इस पर राज़ी हो गये। अब हरिश्चन्द्र के पुत्र हुआ—उसका नाम रोहित रखा गया। पुत्र जन्म होने पर वरुण आए और उन्होंने प्रतिज्ञा

---

१. कोलब्रुक—विविध निबन्ध १–पृ. ४५; हॉग–ऐतरेय ब्राह्मण ८-५-२८

पूरी करने के लिए राजा से कहा। किन्तु हरिश्चन्द्र ने प्रार्थना की—'दस दिन का पशु बलियोग्य होता है, अतः उसे दस दिन का हो जाने दीजिये। तब मैं उसकी बलि दूँगा।' वरुण इस पर राज़ी हो गये, परन्तु दस दिन बीत जाने पर हरिश्चन्द्र बोले—'दाँत निकल आने पर पशु बलियोग्य होता है। इसके दाँत निकलने पर बलि दूँगा।' वरुण इस पर भी राज़ी हो गए। रोहित के दाँत भी निकल आये परन्तु पिता ने कहा—'पशु दाँत टूटने पर बलियोग्य होता है—उसके दाँत टूटने पर मैं बलि दूँगा।' इस पर भी वरुण राज़ी हो गए किन्तु रोहित के दाँत टूटने पर पिता ने पुनः वरुण से कहा—'दाँत दुबारा आने पर पशु बलि-योग्य होता है; उसके दाँत निकल आने पर मैं बलि दूँगा।' वरुण इस बार भी राज़ी हो गए। रोहित के दुबारा दाँत निकल आने पर उसके पिता ने वरुण से कहा—' योधा यज्ञ के योग्य तब होता है जब वह शस्त्रों का प्रयोग कर सके। उसे शस्त्र चलाना सीखने दो, फिर मैं उसे अर्पण करूंगा।' वरुण यह भी मान गए। जब रोहित को शस्त्र चलाना आ गया तो उसके पिता ने उससे कहा—'पुत्र! वरुण ने मुझे तुम्हें दिया है। अब मैं तुम्हें वरुण को चढ़ाऊँगा।' किन्तु रोहित ने इन्कार कर दिया और वह धनुष लेकर वन को चला गया। वहाँ पूरे एक वर्ष तक वह घूमता रहा। इधर वरुण हरिश्चन्द्र को पकड़ कर निगल गये। यह सुन कर रोहित इन्द्र के पास गया जिसने उसे दो, तीन, चार, पाँच और फिर छः वर्ष तक घूमने को प्रोत्साहित किया।

इतनी अवधि बीतने पर उसकी वन में सुयवस के पुत्र अजीगर्त नामक ऋषि से भेंट हुई। वहाँ वह अपने तीन पुत्रों—शुनःशेप, शुनःपुच्छ और शुनोलाङ्गूल के साथ ग़रीबी के दिन

बिताता था। रोहित ने उसे अपने बदले में एक पुत्र की बलि देने पर सौ गाय देने का अभिवचन दिया। अजीगर्त उस पर तैयार हो गया, किन्तु उसने ज्येष्ठ को रोक लिया और उसकी पत्नी ने कनिष्ठ को। अतः दोनों ने शुनःशेप को देने का निर्णय किया। रोहित उसे अपने पिता हरिश्चन्द्र के पास ले आया और वरुण भी यह सोच कर कि ब्राह्मण क्षत्रिय से श्रेष्ठ है इस विनिमय पर राज़ी हो गये। फिर हरिश्चन्द्र ने राजसूय यज्ञ में शुनःशेप को बलि-पशु बनाया। इसमें 'होता' का कार्य विश्वामित्र ने किया, जमदग्नि ने अध्वर्यु का, वशिष्ठ ने ब्रह्मा का तथा अयस्य ने उद्गाता का। जब यज्ञ की प्रारम्भिक क्रियायें समाप्त हो गईं तो कोई भी शुनःशेप को यूप से बाँधने के लिए उद्यत न हुआ। तब अजीगर्त और सौ गायों के बदले इस कार्य को करने के लिए तैयार हुए। उन्होंने स्वीकार किया, किन्तु बाँधे जाने पर भी शुनःशेप को मारने के लिए कोई तैयार न हुआ। फिर अजीगर्त आगे बढ़े; और सौ गायों के बदले यह कार्य भी पूरा करने का उन्होंने प्रस्ताव किया। यजमान ने स्वीकार किया। अजीगर्त चाक़ू तेज़ कर पुत्र के पास आये। अब शुनःशेप ने देवताओं से मुक्ति के लिए प्रार्थना करने का सोचा। प्रारम्भ में ऋग्वेद की एक ऋचा से प्रजापति की उपासना की, किन्तु ब्रह्मा ने उसे अग्नि की उपासना करने के लिए कहा। दूसरे मन्त्र से उसने अग्नि की स्तुति की, पर अग्निदेव ने उसे सविता की स्तुति करने को कहा, और सविता ने वरुण की। परन्तु वरुण ने उसे दुबारा अग्नि के पास भेजा, तब अग्नि ने उसे समस्त देवताओं की उचित रूप से स्तुति करने के लिए आदेश दिया। शुनःशेप ने आज्ञा का पालन किया। उसके बन्धन टूट गए और हरिश्चन्द्र ने स्वास्थ्य-

लाभ किया। अब अपनी ओर से शुनःशेप ने पुनः यज्ञ का अनुष्ठान किया। किन्तु जब वह विश्वामित्र के पास बैठा और अजीगर्त ने उसे वापस लेना चाहा तो विश्वामित्र ने उत्तर दिया, 'देवताओं ने इसे मुझे दिया है।' उस समय से वह शुनःशेप न रह कर विश्वामित्र का पुत्र 'देवरात' कहलाने लगा।" [१]

ब्राह्मण ग्रन्थों में साधारण रूप से बताये विषयों का स्वरूप समझाने के लिए उद्धृत इन उदाहरणों के बाद इसी वर्ग की अन्य मुख्य कृतियों का उल्लेख मात्र करना यहाँ पर्याप्त होगा; कारण उनका भेद, चाहे कितना ही गम्भीर क्यों न हो, वैदिक विधि के विस्तृत विवरण के बिना और भारतीय प्राचीन साहित्य के इस युग में व्याप्त पौराणिक जीवन को जाने बिना, नहीं समझा जा सकता।

शतपथब्राह्मण

अतः इतना कहना पर्याप्त होगा कि ब्राह्मण-साहित्य का सबसे अधिक विकास यजुर्वेद में हुआ, क्योंकि इसमें ब्राह्मण के उद्देश्यों की सबसे अधिक व्याख्या दी हुई है। दूसरी ओर क्योंकि कृष्णयजुर्वेद संहिता में सूक्तों और ब्राह्मणों का सम्मिश्रण है, यह सरलता से समझा जा सकता है कि शुक्ल यजुर्वेद से वही ब्राह्मण सम्बद्ध हो सकता है जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन हो और साथ ही साथ सब ब्राह्मणों से अधिक व्यवस्थित और पूर्ण हो—ऐसा ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण है। शुक्लयजुर्वेद संहिता की

---

१. उक्त कथा का शब्दशः सुन्दर अनुवाद आचार्य रॉथ ने किया है—देखो- वेबर- 'इण्डिशे स्टुडियन'-१-पृ० ४५८; तथा वही २-पृ० ११२; म्योर- प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ—१-पृ० ३५५-६०।

भाँति इसका रचयिता भी याज्ञवल्क्य ही माना गया है। संहिता की भाँति इसे भी माध्यन्दिन और काण्व शाखाओं के संस्करणों में सुरक्षित रखा गया है। पहिली शाखा के संस्करण में १४ काण्ड हैं, जिनमें १०० अध्याय अथवा ६८ प्रपाठक, ४३८ ब्राह्मण और ७६२४ कण्डिकाएं हैं। काण्व शाखा में १७ काण्ड, १०४ अध्याय, ४४६ ब्राह्मण और ५०६६ कण्डिकाएं हैं। यह ब्राह्मण पहले ८ काण्डों में सूक्त तथा यज्ञसम्बन्धी विनियोगविधि की व्याख्या में संहिता से पग-पग पर मिलता है। अन्तिम पाँच काण्ड संहिता के विषयों से आंशिक रूप में मिलते हैं, तथा कुछ तो बिलकुल ही नहीं। अतः यह अंश इस विस्तृत ब्राह्मण में उत्तरकालीन वृद्धि होगी। इस ब्राह्मण में प्राचीन तथा पौराणिक पदार्थों का संग्रह प्रचुर मात्रा में है, किन्तु उसका रूप विशुद्ध याज्ञिक होने के कारण वह सायण के सुचारु भाष्य के बिना समझा नहीं जा सकता।

कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तरीय शाखा में उपलब्ध है, और तैत्तरीय ब्राह्मण के नाम से ख्यात है। इसमें संहिता से बहुत ही अल्पमात्रा में भेद पाया जाता है।

सायण ने सामवेद से सम्बद्ध आठ ब्राह्मण बताए हैं। उनके नाम ये हैं—प्रौढ़ (जिसे ताण्ड्य अथवा पञ्चविंश भी कहते हैं), षड्विंश, सामविधि, आर्षेय ब्रह्मण, देवताध्यायब्राह्मण और उपनिषद् जो मैक्समूलर के अनुसार छान्दोग्य उपनिषद्[1] हो सकता है।

---

१. इस परिगणना में 'संहितोपनिषद्' तथा 'वंशब्राह्मण' को भी अन्तर्गत करना चाहिये। देखो— बुर्नेल का समविधानब्राह्मण-१-भूमिका; तथा वेबर- इण्डिशे लिटरटयूरगेशिख्टे – दूसरा संस्करण पृ० ८९…।

इनमें प्रथम दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पञ्चविंश में एक दिन से सौ दिन तक चलने वाली सोमरस की विधि का प्रकरण दिया हुआ है। षड्विंश में जादूटोने सम्बन्धी विधियाँ बताई गई हैं। अन्त में रोग, भूचाल, असाधारण घटना जैसे अपशकुनों के विवरण पर एक अध्याय दिया हुआ है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध गोपथ ब्राह्मण है। चारक और वाजसनेयिओं (कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के अनुयायियों) में विभेद हो जाने के पश्चात् तथा वाजसनेयी संहिता के पूर्ण हो जाने पर इसकी रचना हुई। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ गोपथ में अन्य वेदों की प्रथम पङ्क्ति दी गई है, यजुर्वेद की प्रथम पङ्क्ति वाजसनेय संहिता से उद्धृत है, तैत्तरीय से नहीं। विशेष कर दुर्घटनाध्याय में—वेदों के अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा यहाँ यह बात अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। साधारणतः विधि विधान उसी प्रकार बताया गया है जैसा दूसरे ब्राह्मणों में।[१]

संहिता (अथवा मन्त्रों का समूह) और ब्राह्मण ग्रन्थ हिन्दुओं के सुप्रतिष्ठित वेद-साहित्य को घटित करते हैं; उन्हें श्रुति के नाम से भी कहा जाता है। किन्तु वेद का नाम लेते समय उस ग्रन्थसमूह को नहीं भूलना चाहिए जिसका एक भाग उससे बहुत निकट का सम्पर्क रखता है और आगे आने वाली पीढियों ने जिसे वेद के समान ही पूज्य भाव से माना है। उसका दूसरा भाग इतना उपयोगी उपकरण बन गया है कि उसे वेदाङ्ग नाम देना वस्तुतः समुचित है।

१. राजेन्द्रलाल मित्र— गोपथब्राह्मण–भूमिका (कलकत्ता १८७२)–पृ० ११–२७।

प्रथम वर्ग में आध्यात्मिक विद्या-सम्बन्धी अथवा वेदान्तपरक ग्रन्थ हैं। इनकी उत्पत्ति ब्राह्मणों से हुई है। पाश्चात्य विद्वानों में ये उपनिषद् नाम से ज्ञात हैं तथा वैदिक वाङ्मय की सभी शाखा-प्रशाखाओं से अधिक प्रसिद्ध है। वेदान्त के महान् दार्शनिक एवं उपनिषदों के अमर टीकाकार आचार्य शङ्कर के अनुसार इस शब्द की उत्पत्ति उप+नि पूर्वक सद् से है जिसका अर्थ 'नाश करना' होता है। शाब्दिक अर्थ है—वह शास्त्र जो अविद्या या अज्ञान का नाश करे। इसके प्रतिकूल पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इसका वास्तविक अर्थ 'गुरु के समीप बैठ कर विनयपूर्वक उसका कथन सुनना' है (उप=समीप, नि=नीचे, सद्=बैठना)। किन्तु पर्याप्त सम्भावना है कि इस शब्द का प्रयोग उपनिषद् ग्रन्थों से पूर्वकालीन हिन्दू वैयाकरणों ने 'रहस्य' अर्थ में किया है—उपनिषद् अर्थात् 'किसी गुप्ति में प्रवेश'। किन्तु चूंकि व्युत्पत्ति से इसका सामञ्जस्य नहीं बैठता यह निश्चित है कि किसी भी युग में उपनिषद् केवल प्राचीन ऋषियों द्वारा शिष्यों को दिए गए उपदेश ही नहीं है, अपितु गुप्तविद्या है जो सत्य के स्वरूप पर प्रकाश डाल कर प्राणियों को शाश्वत मुक्ति प्राप्त करने में सहायक होती है।

यही समस्त उपनिषदों का उद्देश्य है। जो भी ज्ञान उनसे मिलता है वह विश्व की उत्पत्ति तथा प्रकृति का स्वरूप और परमात्मा तथा उसके अंशभूत जीवात्मा का सम्बन्ध प्रकाशित करता है। वेदान्तदर्शन में भी परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप के विषय में वही औपनिषदिक विचारधारा है। अतः उपनिषद् तथा प्राचीन हिन्दू दर्शनशास्त्रों के मध्य निकट सम्बन्ध एकदम प्रतीत हो जाता है। उनमें केवल दार्शनिक तर्क के

प्रारम्भ और पर्यवसान के पार्थक्य का ही भेद पाया जाता है। वेदान्त में हिन्दू विचारकों ने जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का सिद्धान्त स्थापित कर उसका विश्व की सृष्टि के साथ समन्वय करने का उपक्रम प्रस्तुत किया है। वह विचारप्रणाली हमारे दार्शनिक तर्क की कसौटी पर सम्भवतः सही न उतरे, किन्तु भारतीय विमर्श का उद्देश्य स्पष्टतः ही वैज्ञानिक शुद्धता और वर्णन में संक्षिप्तता है। उनमें पौराणिक आध्यात्मिकता का प्रायः अभाव है; इसके विपरीत उपनिषदों में दार्शनिक-ज्ञान की सामग्री दी गई है। विषय का प्रतिपादन प्रायः अनियमित रूप में किया गया है। बीच-बीच में उपाख्यान तथा दृष्टान्तकथाएँ ग्रथित हैं जो प्रश्नोत्तर रूप में हैं। इनमें पुनरावृत्ति तथा निरर्थक वाग्व्यवहार का प्राचुर्य है। तत्रापि उपनिषदों के उक्त स्वरूप का विचार हिन्दू-धर्म के अनुसार करना चाहिए, तभी सरलता से समझा जा सकेगा कि उपनिषद् शिक्षित समाज के बुद्धिगम्य होने के कारण उस ज्ञाननिधि के आधार बन गए हैं जिसने भारतीय इतिहास के सभी युगों में मूर्तिपूजा और शास्त्रों को अशुद्ध समझने से प्रचलित उन मलिन विधियों के अनुष्ठान का खण्डन किया जिसमें निश्चय ही पुरोहितों के भ्रष्ट सम्प्रदाय की स्वार्थपरक मनोवृत्ति थी।

उपनिषद्

उपनिषत्-साहित्य में भिन्न-भिन्न युग स्पष्ट पहिचाने जा सकते हैं—यद्यपि उन युगों की संस्कृत-भाषाविज्ञान के द्वारा प्रमाणित अवधि निश्चित करने का कोई साधन नहीं है। सर्व-प्रथम गणना में आरण्यक आते हैं। जैसा कि नाम से ही पता चलता है तथा महान् वैयाकरण पाणिनि पर लिखी टीका में

कात्यायन ने भी बताया है—इस उपनिषद्वर्ग का वन के एकान्त स्थान में अध्ययन किया जाता था। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवन के गूढ़ तत्त्वों का विचार करते समय मस्तिष्क का संसार के सब विषयों से विरक्त होना आवश्यक समझा गया था। इन आरण्यकों की जितनी निकटता ब्राह्मणों से थी इतनी उपनिषदों से नहीं। उदाहरणार्थ—बृहदारण्यक शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण का ही अंश है, ऐतरेयारण्यक ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध है, और छान्दोग्य उपनिषद् की—जैसा कि देखा जा चुका है—सामवेद के ब्राह्मणों में गणना है—यद्यपि उसे आरण्यक का नाम नहीं दिया गया है। इन ग्रन्थों में भी ब्राह्मणों के सदृश पौराणिक कथाओं से दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है, तत्रापि गूढ़ संकेतों के आधिक्य के कारण ही उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता है। दूसरे वर्ग में पौराणिक एवं रहस्यवादी दृष्टान्तों की उतनी अधिकता नहीं हैं, वे संक्षिप्त हैं; अत एव दार्शनिक को अधिक मात्रा में आकर्षित करते हैं। इस वर्ग में अधिकांश वे उपनिषद् रखे जा सकते हैं जो आरण्यकों से उत्तरकालीन हैं।

तृतीय या अन्तिम वर्ग में वे ग्रन्थ हैं जो वैदिक धर्म के और बाद में आने वाले सिद्धान्तों में ऐक्यस्थापन करने के कारण महत्त्वशाली है। इस युग के उपनिषदों में सर्वव्यापक आत्मा की त्रिमूर्ति का एक मूर्ति में समन्वय या अन्य मूर्तियों से समीकरण किया गया है—यह बात साम्प्रदायिक मत में स्पष्ट प्रतीत होती है।

उपनिषद् का यह उपर्युक्त वर्णन मुख्यतः अथर्ववेद से सम्बन्ध रखता है। उदाहरणार्थ आरण्यकसमूह में ऐतरेयारण्यक का निम्नलिखित अंश उद्धृत है—"यह (जगत्) सृष्टि के पूर्व

केवल ब्रह्म था और कुछ नहीं, न स्थावर, न जङ्गम। उसने सङ्कल्प किया—'मैं जगत् की सृष्टि करूँ'। उसने सृष्टि की रचना की, यथा—वरुणलोक, सौरमण्डल, मर्त्यलोक, यमलोक। जललोक द्युलोक के ऊपर है; द्युलोक इसका विश्राम-स्थल है। सौर-मण्डल ही अन्तरिक्ष है, पृथ्वी मर्त्यलोक है, उसके नीचे के लोक ही रसातल है। उसने सोचा इन लोकों की सृष्टि हो गई है। अब इन लोकों के रक्षकों (लोकपालों) की सृष्टि करनी चाहिए। जल में से मानव की आकृति के एक प्राणी को निकालकर उसने उसकी रचना की। उसने मनन के ताप से उसे तपाया। जब वह इस प्रकार तप गया तो उसका मुख पक्षी के अण्डे के समान फूट पड़ा; मुख से वाणी, और वाणी से अग्नि। पश्चात् नासिका-रन्ध्र, उससे श्वास, और श्वास से वायु। तदनन्तर चक्षु, चक्षु से दृष्टि और दृष्टि से सूर्य। फिर श्रोत्र, उससे श्रवणशक्ति और श्रवण-शक्ति से आकाश-मण्डल आदि। उसने पुनः विचार किया—'लोक और लोकपालों का निर्माण हो चुका। अब मैं इनके लिये अन्न उपजाऊँगा।' (अपने बिम्ब से) उसने जल को गरम किया। गरम होने पर उसमें से एक संघटित आकृति निकली। वह आकृति अन्न ही थी। जब अन्न उत्पन्न हुआ तो भयभीत हो वह चिल्लाया और भागने लगा तब उस आदिमानव ने उसे वाणी के द्वारा पकड़ना चाहा। यदि वह अन्न को वाणी से पकड़ पाता तो अन्न के उच्चारण मात्र से सब तृप्त हो गए होते। तब उसने अन्न को श्वास से पकड़ने की इच्छा की मगर श्वास से भी वह पकड़ न पाया। यदि उसने श्वास से अन्न को पकड़ लिया होता तो सब केवल अन्न सूँघने से ही तृप्त हो जाते।······उस- 'आत्मा' का स्वरूप कैसा है जिसे हम 'यह आत्मा' के नाम से पुकारते हैं, और इन

दोनों (परमात्मा और जीवात्मा) में से कौन सी 'आत्मा' है ? (क्या विषयों का प्रत्यक्ष कराने वाले करण आत्मा हैं अथवा प्रत्यक्ष करने वाला ? नहीं, करण आत्मा नहीं हैं।) क्या यह वह है जिससे आत्मा रूप देखती है, जिससे वह शब्द सुनती है, जिससे वह गन्ध ग्रहण करती है, जिससे वह वाणी बोलती है, जिससे वह अच्छे बुरे स्वाद को पहचानती है ? चित्त और बुद्धि; आध्यात्मिक ज्ञान, आत्मशक्ति का ज्ञान, ६४ कलाओं का ज्ञान, समय पर यथोचित व्यावहारिक ज्ञान, उपदेश ग्रहण करने की क्षमता, प्रत्यक्षज्ञान; तितिक्षा, मनन-शक्ति, मन की स्वाधीनता; चैतन्य, स्मरणशक्ति, सङ्कल्पशक्ति, धैर्य, इच्छा, सहिष्णुता—ये सब ज्ञान के नाम है, (ये न्यून ब्रह्म के विकार हैं—जीवात्मा की उपाधि हैं, ये निराकार पर-ब्रह्म की उपाधियाँ नहीं हैं।) यह जीवरूप आत्मा न्यून ब्रह्म है, यह इन्द्र, यह प्रजापति, ये विश्वेदेव, पञ्च-महाभूत और ज्योति—इन सब का अस्तित्त्व ज्ञान के द्वारा ही है। सब की प्रतिष्ठा ज्ञान पर ही है। जगत् की सत्ता भी ज्ञान के कारण ही है। ज्ञान ही स्वयं आधार है, ज्ञान ही ब्रह्म है"।[1]

बृहदारण्यक में कहा है—विदेह के राजा जनक ने एक यज्ञ किया था। उसमें अनेक ब्राह्मण एकत्र हुए थे। राजा ने यह जानने की इच्छा से कि इन ब्राह्मणों में वेदों का सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता कौन है, सहस्र गौओं को शाला में बाँध दिया और उनके सींगों में स्वर्ण के दस-दस पद मँढ दिए थे। तब उन धर्मवेत्ताओं से कहा—'पूज्य ब्राह्मणों ! जो आप में श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञाता हो वह

---

१. रोअर—'उपनिषदों का अनुवाद' (बिब्लोथिका इण्डिका) भाग-१५ पृ. २८...; श्री राजेन्द्रलाल मित्र-ऐतरेय आरण्यक की भूमिका (कलकत्ता-१८७६)।

इन गौओं को घर ले जाय।' कोई भी ब्राह्मण आगे आने का साहस न कर सका। तब याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा—'इन गौओं को घर ले जाओ।' इस पर अन्य ब्राह्मण क्रुद्ध हुए और ऋषि से ब्रह्मज्ञान की परीक्षा लेने लगे। तब आरुणि उद्दालक ने प्रश्न किया—'याज्ञवल्क्य! मैं मद्र देश में बलि-विद्या सीखने के लिए कपिवंश पतञ्जल के घर रहा। उसकी पत्नी के शरीर में एक गन्धर्व आया करता था। मैंने उस गन्धर्व से पूछा—'तुम कौन हो?' उसने कहा—'अथर्व का पुत्र कबन्ध।' फिर उसने काप्य वंश के पतञ्जल और हम से कहा—'ओ काप्य! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो जिससे यह लोक, अन्य लोक तथा सब प्राणी एक दूसरे से बँधे हुए हैं?' काप्य वंश के पतञ्जल ने कहा—'मैं नहीं जानता, पूज्य! फिर उसने पतञ्जल और हम से कहा—'ओ काप्य! क्या तुम उस अन्तरात्मा को जानते हो जो हमारे अन्तर से इस लोक का, सारे लोकों का तथा सारे प्राणियों का नियमन करता है?' पतञ्जल ने कहा—'मैं यह नहीं जानता।' फिर उसने पतञ्जल और हम से कहा—'काप्य! जो इस सूत्र, अन्तर्यामी को जानता है वही ब्रह्म को, लोक को, देवताओं को, वेद को, तत्त्वों को और आत्मा को जानता है। वह सब कुछ जानता है।' तदनन्तर गन्धर्व ने (सूत्र और अन्तर्यामी के विषय में सब) बताया। अतः मैं यह जानता हूँ। याज्ञवल्क्य! अगर तुम सूत्र और अन्तर्यामी के विषय में अज्ञ होते हुए गौएँ ले गए हो (जो ब्रह्म के जाननेवालों में सर्वोत्तम ज्ञाता के लिए रखी गई थी) तो तुम्हारा सिर कट कर नीचे गिर पड़ेगा।'

'गौतम! मैं निश्चय ही सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ।'

'कोई भी मनुष्य कह सकता है मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ; किन्तु तुम उसे जिस रूप में जानते हो—बताओ।'

याज्ञवल्क्य बोले—'गौतम ! वह सूत्र वायु है। गौतम ! वायु से यह लोक, दूसरे लोक और सारे प्राणी आपस में डोरे के समान ही बँधे हैं। इसीलिए एक मृत मनुष्य के लिए कहा जाता है कि उसके अवयव शिथिल पड़ गए हैं क्योंकि वे डोरे के समान वायु से बँधे हुए हैं।'

'याज्ञवल्क्य ! यह ठीक है। अब अन्तर्यामी के विषय में कहो।'

'जो पृथ्वी में रहते हुए भी पृथ्वी में है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथ्वी है, जो अन्तर से पृथ्वी को नियन्त्रित करता है, वही अन्तर्यामी है, तुम्हारी अमर आत्मा है। जो जल में वास करते हुए जल में ही है, जिसे जल नहीं जानता, जिसका शरीर जल है, जो अन्तर से जल का नियन्त्रण करता है वही अन्तर्यामी है और तुम्हारी अमर आत्मा है। जो अग्नि में रहते हुए भी अग्नि में है—इत्यादि—जो अन्तरिक्ष···आदि—वायु··· द्युलोक में···सूर्य में···तत्त्वों में···प्राण में···वाणी में···चक्षु··· कर्ण···मन···त्वचा में···बुद्धि में···आदि—जो रेतस रहते हुए भी रेतस में ही है—जिसे रेतस नहीं जानता—जिसका शरीर रेतस है—जो अन्तर से रेतस का नियन्त्रण करता है—वही अन्तर्यामी अमर तुम्हारी आत्मा है।

···अदृष्ट होते हुए भी जो देखता है, सुना न होते हुए भी जो सुनता है—अचिन्त्य होते हुए भी जो सब कुछ सोचता है, अविज्ञात होकर भी वह सब कुछ जानता है···अन्य कोई नहीं जो देखता हो, केवल वही देखता है। कोई अन्य नहीं जो सुनता हो, केवल वही सुनता है। कोई अन्य नहीं जो मनन करता हो,

वही मनन करता है। कोई अन्य ज्ञानी नहीं, वही ज्ञानी है। अन्तर से नियमन करने वाली वही आत्मा है—इससे भिन्न सब नाशवान् हैं।[1]

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत जैसे ईशोपनिषद् है। इसकी एक विशेषता है। यही एक ऐसा उपनिषद् है जो संहिता का साक्षात् अंश है। यह शुक्ल यजुर्वेद का है। अतः यह 'यजुर्वेद उत्तरकालीन ग्रन्थ है' इस तर्क के लिए प्रमाणों को दृढ़ बनाता है। इसका सारांश यह है—

ईशावास्यमिदं सर्वम् —

जो कुछ भी गतिमान् इस जगत् में है वह ईश्वर के द्वारा व्याप्त है। अतः इस जगत् से वैराग्य ले आत्मा की रक्षा करो। पुण्य करते करते मनुष्य को शतायु होने की इच्छा करनी चाहिए। केवल यही मार्ग है जिससे कर्म में लिप्त नहीं हो सकते। अन्धकार से ढके हुए आसुरी लोकों में मृत्यु के पश्चात् समस्त आत्मघात करने वाले मनुष्य जाते हैं। वह आत्मा अचल है तथापि मन से भी अधिक वेगशील है। उस तक देवता (इन्द्रियाँ) भी नहीं पहुँच सकते—वह सबसे आगे दौड़ता है। स्थिर रहते हुए भी उसने कितनी ही तेज दौड़ती हुई इन्द्रियों को पकड़ लिया। उसी में मातरिश्वन् अप को धारण करता है। वह चलता है, नहीं भी चलता है—वह दूर-दूर है—वह समीप भी है—वह सबके अन्दर है—वह सबके बाहर है। जब कोई सब प्राणियों को आत्मा में ही देखता है और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, किसी भी प्राणी को हीन दृष्टि से नहीं देखता ; जब

१. देखो – वही – भाग २–खण्ड ३ पृ. १९९...।

वह सब प्राणियों को आत्मा ही मानता है तथा सर्वत्र ऐक्य देखता है—तब कोई मोह और शोक नहीं रह जाता। वह सर्वव्यापक, तेजस्वी, अकाय, अव्रण, अस्नाविर, शुद्ध, पापों से रहित, कवि, मनीषी, सर्वोपरि, तथा स्वयम्भू है। उसने अपने-अपने स्वभावानुसार सदा के लिये वस्तुओं का विभाजन किया। अविद्या की उपासना करने वाले अन्धकारमय लोकों में जाते हैं किन्तु विद्या की उपासना करने वाले उससे भी गहन अन्धकारमय लोकों में प्रवेश करते हैं। उनका कहना है कि विद्या और अविद्या का फल पृथक्-पृथक् होता है—जिन्होंने दोनों की व्याख्या की है ऐसे ज्ञानी पुरुषों से हमने यह सुना है। जो विद्या तथा अविद्या दोनों को साथ साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को जीत कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त करता है। जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे अन्धकारमय लोकों में प्रवेश करते हैं, किन्तु सम्भूति की उपासना करने वाले उससे भी गहन अन्धकारमय लोको में प्रवेश करते हैं। उनका कहना है कि सम्भूति और असम्भूति की उपासना करने से पृथक्-पृथक् फल प्राप्त होता है—यह हमने उन मनीषियों से सुना है जिन्होंने दोनों का वर्णन किया है। जो दोनों (सम्भूति-असम्भूति) को जानता है वह विनाश से मृत्यु को जीत कर सम्भूति से अमृतत्व को प्राप्त करता है। हे सत्यस्वरूप पूषन्, हिरण्यमय पात्र से ढके हुए सत्य के मुख को मेरे लिए खोल दो ताकि मैं तुम्हें देख सकूँ। पूषन्, एकर्षि, यम, सूर्य, प्रजापति के पुत्र ! तुम अपनी रश्मियों को फैला दो और अपना तेज एकत्र कर दो; ताकि मैं तुम्हारे परम कल्याणमय रूप को देख सकूँ। क्योंकि तुममें जो पुरुष है वह ही मैं हूँ। ये प्राण अनिल में

व्याप्त हो जाँय, शरीर राख का ढेर हो जाय। ॐ। ओ मन! कर्मों का स्मरण करो—अपने पूर्व कर्मों का स्मरण करो। हे अग्नि! हमें आनन्द प्राप्ति के लिए सुन्दर मार्ग से ले चलो। तुम हमारे समस्त कार्यों को जानते हो। हमारे कुटिल पापों का नाश करो। हम तुम्हें नमस्कार करते हैं।"[1]

आरण्यक

चारों वेदों के अपने-अपने मुख्य आरण्यक और उपनिषद् ये हैं:—

ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेयआरण्यक है और कौषीतकि, जिसका तीसरा खण्ड कौषीतकि उपनिषद् है। सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्य और केन उपनिषद् हैं। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक है—इसकी अन्तिम चार अध्यायों में श्वेताश्वतर, मैत्रायण, और काठक उपनिषदों के अतिरिक्त दो और उपनिषद् हैं—तैत्तिरीय और नारायणीय। पहले ही कहा जा चुका है कि बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण से सम्बद्ध है।

उपनिषदों की सबसे अधिक संख्या अथर्ववेद में पाई जाती है—प्रतीत होता है अथर्ववेद ने यज्ञानुष्ठानों के स्थान पर आध्यात्मिक विमर्श का अधिक अनुमोदन किया है। आथर्वण उपनिषदों में विशेष उल्लेखनीय मुण्डक, प्रश्न, ब्रह्म और माण्डूक्य उपनिषद् हैं। ये परमात्मा तथा जीवात्मा की व्याख्या करते हैं। जाबाल, संन्यास, आश्रम और हंस उपनिषदों में उग्र तपस्या अथवा कैवल्य प्राप्ति के साधन पाए जाते हैं। जैसा कहा जा चुका है उपनिषदों के तीसरे वर्ग में साम्प्रदायिकता पाई जाती है। परमात्मा को शिव और विष्णु की भिन्न आकृतियों का रूप दिया

१. देखो – वही – भाग १५ पृ. ७१।

गया है। विष्णु का निर्देश करने वालों में नारायण और नृसिंह-तापनीय उपनिषद् हैं। शिव की उपासना करने वालों में शतरुद्रीय, कैवल्य, स्कन्द तथा अथर्वशिरस् उपनिषद् मुख्यतः ध्यान देने योग्य हैं।[1]

वेदाङ्ग

वेद और आगामी हिन्दू शास्त्रों के बीच उपनिषद् माध्यमिक सन्धि है। वेदाङ्गों से ज्ञात होता है कि शास्त्रयुग से ही वैज्ञानिक अनुसन्धान प्रारम्भ होगए थे। यदि संहिता और ब्राह्मण साहित्य के विस्तार को और आस्तिक जनता की उसे पूर्णरूप से सुरक्षित रखने की उत्कट आकांक्षा को साथ ही साथ देखा जाय तो सरलता से समझा जा सकता है कि समय-समय पर शास्त्रों की शुद्धता कायम रखने के लिए अनेक उपाय निकाले गये ताकि उनके अर्थों की अशुद्ध व्याख्या न हो और ब्राह्मणों में बताई हुई विधि का शुद्ध रूप में पालन हो सके। यही वेदाङ्ग ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य है। सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में छः वेदाङ्ग बताए गए हैं जो वेदों की 'पवित्रता' अर्थात् शुद्धता रखने के लिए उपकरण माने गये हैं। किन्तु यह निश्चित नहीं कि इस ब्राह्मण ग्रन्थ का आशय उन्हीं छः वेदाङ्गों से है जो हमें आज उपलब्ध हैं। यास्क ने भी वेदाङ्गों का उल्लेख किया है किन्तु यह नहीं बताया कि वे छः थे। अतः वेदाङ्ग के रूप में प्रचलित और उन ग्रन्थों में, जो पहले वेदाङ्ग नहीं कहलाते थे परन्तु उसी श्रेणी के अवशेष प्रतिनिधि हैं, हमें भेद देखना चाहिए।

---

१. इस वर्ग के ग्रन्थों के विशेष विवरण के लिए देखो – वेबर – 'अकाडमिशे फोरलेसुन्गेन इयूबर इण्डिशे लिटरटयूरगेशिख्टे', तथा 'इण्डिशे स्टूडियन'।

इस श्रेणी में आने वाले विषय ये हैं :—

शिक्षा, छन्दस्, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और कल्प।

शिक्षा

शिक्षा वर्णों के सही उच्चारण का विज्ञान है। इस वेदाङ्ग का वर्णन एक ही पुस्तक में है। वह पुस्तक प्रसिद्ध ग्रन्थकार महावैय्याकरण पाणिनि द्वारा प्रणीत शिक्षा है। इसके एक सँस्करण में ३५ व दूसरे में ५८ श्लोक हैं। शिक्षा में वर्णों की प्रकृति, स्वरों के उतार-चढ़ाव और उनके उच्चारण के सही तरीक़ों पर प्रकाश डाला है। तैत्तिरीय आरण्यक का एक अध्याय उसी प्रकार शिक्षा पर लिखा गया है। यद्यपि सम्भव है कि पाणिनीय शिक्षा इस श्रेणी का वास्तविक वेदाङ्ग न हो; परन्तु इसमें और भी सन्देह है कि उक्त आरण्यक का यह अध्याय कभी भी उक्त रूप में माना गया हो।[1]

छन्दस्

छन्द का अर्थ 'वृत्त' है और तत्सम्बन्धी वेदाङ्ग के रचयिता पिङ्गलनाग हैं। उसमें प्राकृत और संस्कृत दोनों प्रकार के छन्दों का विवेचन है, अत एव — 'यह वास्तविक वेदाङ्ग ग्रन्थ है'— एक विवादास्पद विषय बन जाता है।

व्याकरण

व्याकरण का अर्थ 'शब्द-शास्त्र' है। इसका शाब्दिक अर्थ 'विवरण' अर्थात् 'विश्लेषण करना' है। हिन्दू विद्वान्[1] व्याकरण का

१. वेवर – इयूवर डस प्रतिज्ञासूत्र (१८७२); हॉग – इयूवर डस वेजन उण्ट डेन वर्थ वेडिशन अक्सेन्ट्स (१८७३) – पृष्ठ ५३ ...; किइलहॉर्न–इण्डियन एण्टिक्वरी – भाग ५ पृ० १४१, १९३।

अर्थ भाषा-सम्बन्धी परिच्छेद समझते हैं। उनके अनुसार व्याकरण शब्दों का व वाक्यों का विश्लेषणात्मक परिच्छेद करता है, शब्द के प्रत्येक अवयव की परीक्षा करता है। यह प्रकृति (base) और प्रत्यय का स्वरूप बताता है और दोनों से घटित सारी भाषा के विभिन्न अवयव एवं प्रकारों के स्वरूप से परिचय कराता है। यह वाक्यों में एक शब्द का दूसरे शब्द से सम्बन्ध निर्धारित करता है, और उसी प्रकार शब्दों के योग के कारण अपरिच्छिन्न भाषा-तत्त्वों का विश्लेषण कर निरूपण करता है। इस विज्ञान के सर्वप्रसिद्ध प्रतिनिधि पाणिनि हैं। उन्होंने एक पुस्तक आठ अध्यायों में लिखी है जिसमें बत्तीस परिच्छेद हैं। कुल ३६६६ नियम दिये गये हैं जिनमें शायद तीन या चार स्वयं के नहीं हैं। इस अद्भुत परिश्रम की प्रसिद्धि इतनी अधिक हुई कि इसे किसी भी देश और युग के उत्तमोत्तम व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थों की समानता में रखा जा सकता है। इस ग्रन्थ के कारण पाणिनि ऋषि माने गये क्योंकि उन्होंने प्रेरणा के रूप में उसे स्वयं शिव से पाया था। यह सत्य है कि पाणिनि ने कई पूर्ववर्त्ती वैय्याकरणों के नाम अपने ग्रन्थ में दिये हैं किन्तु पाणिनीय व्याकरण से ही व्याकरण शास्त्र का सङ्केत किया जाता है और आज भी वही संस्कृत भाषा का प्रामाणिक व्याकरण माना जाता है। पाणिनि के ग्रन्थ की (विवृति) कात्यायन ने की और उस पर वार्त्तिक भी लिखा और ईसामसीह से दो शताब्दी पूर्व मध्यकालीन युग में वैय्याकरण पतञ्जलि ने उस पर भाष्य किया।[1] ये तीनों वैय्याकरण अपने शास्त्र में सबसे बड़े प्रमाण माने जाते

---

१. किइलहॉर्न – 'कात्यायन एण्ड पतञ्जलि'–(१८७६)

हैं। हमारे प्रस्तुत विषय में वेदाङ्ग के प्रतिनिधि केवल पाणिनि ही कहे जा सकते हैं। वेद-संहिताओं से व्याकरण की अपेक्षा अधिक निकट सम्पर्क रखने वाले प्रातिशाख्य ग्रन्थों से व्याकरण को पृथक् ही समझना चाहिए। प्रातिशाख्यों का केवल वैदिक भाषा से ही सम्बन्ध है परन्तु पाणिनि का ग्रन्थ वैदिक भाषा की अपेक्षा अधिकतर लौकिक संस्कृत में व्यवहृत है। इतना ही नहीं उनके उद्देश्य और विषय व्याकरण के उद्देश्य और विषय से तत्त्वतः भिन्न हैं। उनका विषय केवल सम्मुख आए पद अथवा शब्द के 'आदिरूप' की वह अवस्था है जिसमें वह वाक्यों में या दूसरे शब्द के साथ प्रयोग के योग्य हो सका है। शब्द या उसके मूल को विभक्त कर उसकी व्युत्पत्ति आदि समझाने से उनका कोई तात्पर्य नहीं है। वे शब्दों को ज्यों का त्यों लेते हैं और सूक्तों में प्रयुक्त होने पर उनमें जो परिवर्तन होते हैं उन्हें बताते हैं। संस्कृत-भाषा-विज्ञान की वर्तमान अवस्था में यह बताना सहज नहीं कि उपलब्ध प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त किसी युग में और भी मौजूद थे, किन्तु इतना प्रमाणित हो चुका है कि इन दिनों उपलब्ध प्रातिशाख्य पाणिनीय ग्रन्थ से अर्वाचीन हैं।[1]

निरुक्त

निरुक्त या व्युत्पत्ति शास्त्र से सङ्केत यास्क के निरुक्त से है। यह वैदिक संहिता के दुर्बोध अंशों को समझाने वाला प्राचीनतम प्रयास है। म्यूलर ने कहा है[2] 'यह ध्यान देने

१. गोल्डस्टूकर – पाणिनि – पृ० १८३; म्यूलर – ऋग्वेद प्रातिशाख्य – पृ. १८९।

२. प्राचीन संस्कृत साहित्य – पृ० १८४।

योग्य है कि यास्क के निरुक्त को स्वयं लिखी टीका से मिलाना नहीं चाहिए जो भी हस्तलिखित ग्रन्थों में टीका को निरुक्त और निरुक्त के मूलग्रन्थ को निघण्टु के नाम से कहना प्रचलित है।' वेदाङ्ग साहित्य के अन्तर्गत मौलिक निरुक्तों में केवल शब्दों की अर्थानुसार व्यवस्थित सूची दी गई होगी। यास्क उनसे परिचित थे और उनके आधार पर उन्होंने अपनी टीका लिखी है।······सायण ने इस विषय पर ये विचार प्रकट किए हैं—'निरुक्त ऐसा ग्रन्थ है जिसमें शब्द दिए हुए हैं और उन्हें वाक्यों में प्रयुक्त करने का कोई आशय नहीं है······।' निरुक्त का प्रथम भाग नैघण्टुक, द्वितीय नैगम और तृतीय दैवत काण्ड है। निघण्टु शब्द उस ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें अधिकांश पर्यायवाची शब्द दिये होते हैं। अतः इस पुस्तक के पहले भाग को नैघण्टुक कहते हैं क्योंकि उसमें पर्यायवाची शब्दों का अध्ययन किया गया है। इसमें तीन अध्याय हैं; पहले में ऐहिक और पारलौकिक देश-काल से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों का निर्वचन हैं। दूसरे में मनुष्य और मानुषिक कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले शब्द हैं। तृतीय भाग में पूर्वोक्त विषयों के गुण—कृशता, समुदाय, लघुता आदि—का विवेचन है।

निगम का अर्थ वेद है। यास्क ने वेद से कई उद्धरण दिए हैं और उन्हें 'इसके लिए निगम भी है' कहकर आरम्भ किया है। साथ ही साथ दूसरे भाग में, जिसमें चतुर्थ अध्याय दिया गया है, केवल वेद में ही आने वाले शब्द दिए हैं। अत एव इस भाग को नैगम कहते हैं। तीसरा भाग जिसमें पञ्चम अध्याय है दैवत क्यों कहलाता है स्पष्ट है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ जिसमें

पाँच अध्याय और तीन भाग हैं निरुक्त कहलाता है क्योंकि उसमें किसी और का ध्यान न रखते हुए शब्दों का अर्थमात्र दिया है। इसके ऊपर यास्क ने बीस अध्याय में भाष्य लिखा है, इसे भी निरुक्त कहते हैं—क्योंकि प्रत्येक शब्द के वास्तविक अर्थ इसमें पूर्णरूप से दिए हैं।

ज्यौतिष

पञ्चम वेदाङ्ग ज्यौतिष या खगोल एवं ताराग्रहों की विद्या है। याग-कार्यों के अनुष्ठान का उचित समय नियत करना ही इसका प्रयोजन है। यह वैदिक पञ्चाङ्ग है।[1] 'इण्डिया-ऑफ़िस' के पुस्तकालय में केवल एक ही हस्तलिखित ग्रन्थ है जो इस श्रेणी में रखा है किन्तु यह कहना कठिन है कि वह वेदाङ्ग ग्रन्थ के उच्च नाम के योग्य है।

कल्प

छठा वेदाङ्ग कल्प है जिसका कलेवर बहुत बड़ा है। इसके क़ई हस्त-लिखित ग्रन्थ हमारे पुस्तकालयों में मिलते हैं। कल्प का अर्थ विधि है। इस वर्ग में आने वाले ग्रन्थ ब्राह्मण विधि की धर्मसंहिता अर्थात् क़ानून है। पहले भी कहा जा चुका है कि वेद के ब्राह्मण भाग में संहिता के अन्तर्गत सूक्तों का प्रयोजन समझाया गया है, यह भाग वैदिक-पद्धति से परिचय कराने वाला ग्रन्थराशि है। यह विद्या ब्राह्मणग्रन्थों के रचना काल में पर्याप्त थी, किन्तु कालान्तर में विधि को उचित रूप से क्रियान्वित करने में अधिक विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता पड़ी। प्रथम प्रयास होने के कारण ब्राह्मणों में प्रतिपादित विषय में उचित

---

१. वेबर – इयूबेर डेन वेदकलेण्डेर नोमेन्स ज्योतिषम्, – पृ. १८६।

व्यवस्था की कमी है और पौराणिक कथाओं का आधिक्य है। ये कथाएँ यज्ञानुष्ठान के सम्बन्ध में दिये हुए विवरण में रुकावट डालती हैं। इस व्यावहारिक दोष को कल्पसूत्र निवारण करते हैं—उनमें वैदिक विधि की उस-उस वेद के अनुसार पद्धति दी है जिससे वह सम्बद्ध है। ऋग्वेद की विधियों से सम्बद्ध कल्पसूत्र सांख्यायन, आश्वलायन और शौनक के सूत्र हैं। सामवेद की विधियों की व्याख्या करने वाले मशक, लाट्यायन, गोभिल और द्राह्यायण के सूत्र हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण में उपदिष्ट विधि को बताने वाला अनुपाद सूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ हिरण्यकेशी, मानव, भारद्वाज आदि सूत्र हैं। शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन सूत्र और अथर्ववेद के कौशिक सूत्र हैं।

सूत्र की अन्य दो श्रेणियों ने कल्प के अन्तर्गत उस समग्र धार्मिक विधान को पूरा कर दिया जो श्रुति या वेद पर आधारित होने से श्रौतसूत्र के नाम से विख्यात हुआ। नामतः ये गृह्य और सामयाचारिक सूत्र कहे गये हैं। गृह्यसूत्र में गृहस्थ-सम्बन्धी संस्कार बताए हैं। ये श्रौत 'या कल्प ग्रन्थों में कथित यागविधि से भिन्न हैं।' सर्व प्रथम वैवाहिक संस्कार, फिर गर्भाधान के समय किए जाने वाले संस्कार, अपत्य जन्म से पूर्व, समय समय पर किए जाने वाले सीमन्त आदि संस्कार, जातकर्म, नाम-करण, सूर्य-दर्शन, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण और अन्त में विद्यारम्भ संस्कार का विधान है। विद्यारम्भ के लिये बालक गुरु के पास भेजा जाता है जिसकी अध्यक्षता में वह शास्त्रों का अध्ययन करता है...। इस सेवाकाल में 'शास्त्र-कला' को सीखने के बाद जब शिष्य युवावस्था प्राप्त करले; वह विवाह करने की, निजी- अलौकिकाग्नि

प्रज्वलित करने की, अपने पुरोहित चुनने की, और वर्ष प्रतिवर्ष स्मृति और श्रुति द्वारा विहित पवित्र यज्ञविधि करने की अनुमति पा सकता है। ये सब विधियाँ गृह्यसूत्र के अन्तिम अध्यायों में दी हुई हैं। आख़री अध्याय में श्राद्धसँस्कारों का और प्रेतात्मा को देने योग्य वस्तुओं का पूरा विवरण है।

सामयाचारिक सूत्र

सामयाचारिक सूत्र दैनिक जीवन के व्यवहार को नियमबद्ध करते हैं। 'विशेष कर इन्हीं सूत्रों में हमें छन्दोबद्ध स्मृतियों का मौलिक आधार उपलब्ध होता है—मनु याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियाँ इन्हीं सूत्रों पर रची गई हैं।"[1] ये दोनों प्रकार के सूत्र (गृह्य एवं सामयाचारिक) स्मार्त सूत्र कहलाते हैं, कारण ये स्मृति अर्थात् परम्परा के आधार रूप हैं। ऋग्वेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्र साङ्ख्यायन और आश्वलायन हैं। सामवेद का गृह्यसूत्र गोभिल रचित है। यजुर्वेद की उभयशाखा के अनेक गृह्यसूत्र हैं—कृष्ण-यजुर्वेद का बोधायन गृह्यसूत्र विशेषकर उल्लेखनीय है और उसी तरह शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर गृह्यसूत्र।

वैदिक साहित्य के मुख्य ग्रन्थों का विवरण कतिपय अन्य रचनाओं का उल्लेख कर हम समाप्त करते हैं। ये हैं अनुक्रमणियाँ। इस वर्ग की रचनाएँ वैदिक संहिताओं का असली स्वरूप बनाये रखने के उद्देश्य से की गई थीं। ये ग्रन्थ वेद से सम्बन्ध रखने वाली पारम्परिक एवं निर्वचनात्मक सामग्री को सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। सबसे अधिक परिपूर्ण अनुक्रमणी हमें कात्यायन रचित ऋग्वेदसंहिता की उपलब्ध है।

---

१. म्यूलर – प्राचीन संस्कृत साहित्य – पृ० २००।

यह प्रत्येक सूत्र का आदि प्रतीक देती है—साथ ही साथ इसमें मन्त्रों की संख्या, ऋषियों के नामगोत्र, देवता के नाम और प्रत्येक मन्त्र के छन्दों का भी उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम है 'सर्वानुक्रमणी' अर्थात् सब सामग्री का अनुक्रम से सङ्कलन। यह निश्चय ही इससे पूर्ववर्त्ती शौनकप्रणीत चार इस जैसी ही अनुक्रमणियों से अधिक व्यवस्थित है। यजुर्वेद की तीन अनुक्रमणी, सामवेद की दो और अथर्ववेद की एक अनुक्रमणी का उल्लेख हमें मिलता है।[१]

यहाँ यह एक सहज प्रश्न किया जासकता है कि वैदिक साहित्य के उपर्युक्त विवरण में उल्लिखित ग्रन्थराशि का रचना-काल कौन सा माना जाय। इसका उत्तर संस्कृत भाषाविज्ञान अद्यापि सन्तोषजनक रीति से देने में असमर्थ है। व्यक्तिगत विचार के अनुसार कल्पित तिथियाँ अनुमानित की जा सकती हैं, तत्रापि यह कहना होगा कि अद्यावधि किये हुए अनुसन्धान ऐसी कोई सामग्री उपस्थित नहीं करते जो तिथिसम्बन्धी ऊहों को किसी भी सीमा तक मान्यता प्रदान करने के लिये पर्याप्त हो।

---

२. वही – २१५......।

द्वितीय अध्याय

वैदिक साहित्य

सिंहावलोकन

वेद[1] उस प्राचीन ग्रन्थराशि का नाम है जो हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं के प्रारम्भिक युग के द्योतक हैं। इस ग्रन्थ-राशि में सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है जो सम्भवतः विश्वसाहित्य का भी सबसे पुरातन ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके अनन्तर यजुर्वेद और सामवेद उल्लेखनीय हैं। इस वर्ग का अन्तिम ग्रन्थ अथर्ववेद है। प्रथम तीन वेदों के समुदाय को 'त्रयी' (-विद्या) भी कहते हैं। चारों वेद अपौरुषेय माने जाते हैं। प्रत्येक वेद दो भागों में विभक्त है: संहिता और ब्राह्मण। संहिता में मन्त्रों का समुदाय है जिन्हें सूक्त कहते हैं। मन्त्र[2] का शाब्दिक अर्थ है मनन अथवा चिन्तन। मीमांसकों का मत मानते हुए कॉलब्रुक मन्त्र शब्द का तात्पर्य 'प्रार्थना, कृतज्ञताप्रकाशन, स्तुति, विनय अथवा देवतानुग्रह' समझते हैं। मन्त्र किसी धार्मिक कृत्य का उद्देश्य बताते हैं, कर्म की प्रशंसा करते हैं अथवा देवता के अनुग्रह की कामना प्रकट करते हैं। मन्त्रों में प्रश्नोत्तर भी हैं। मन्त्र आदेश परक हैं, कहीं कहीं प्रश्नवाचक भी हैं। चिन्तन भी उनका विषय है। उनमें आर्शीवचन भी पाये जाते हैं, कहीं निन्दास्तुतिरूप अर्थवाद भी हैं। कहीं उत्सव का वर्णन है तो कहीं विलाप का;

---

१. यह शब्द संस्कृत विद्, लैटिन विद्, ग्रीक इद, गॉथिक वेट्, लिदुआनियन वेज्ड = ज्ञानवाची धातु से बना है।

२. मन् चिन्तनार्थक धातु से मन्त्र शब्द बना है।

कहीं गणना है तो कहीं कथोपकथन भी। कहीं मन्त्रों में देवता उत्तमपुरुष के द्वारा तो कहीं मध्यमपुरुष के द्वारा सम्बोधित किये गये हैं।

यदि मन्त्र की रचना छन्दोबद्ध है और उसका पाठ उच्चस्वर से किया जाना अभिप्रेत है तो उसे ऋक् कहते हैं—ऋक्समुदाय ही ऋग्वेद है। यदि मन्त्र गद्यात्मक है तो उसका पाठ उपांशु किया जाता है। ऐसे मन्त्रों को यजुष् कहते हैं जिनके द्वारा याग सम्पन्न किये जाते हैं। याजुष मन्त्रों का समुदाय ही यजुर्वेद है। यदि मन्त्र छन्दोबद्ध होकर गेय भी हो तो उसे साम[1] कहते हैं। सामसङ्ग्रह का नाम सामवेद है। चतुर्थ वेद के मन्त्रों का कोई पृथक् नाम नहीं है।

मन्त्र के रचयिता को हिन्दू दिव्यभावना से प्रेरित 'द्रष्टा' समझते हैं। उसने उस मन्त्र को देवता से प्राप्त किया है अत एव वही उस मन्त्र का 'ऋषि' कहा जाता है। जिसे लक्षित कर वह मन्त्र कहा गया है वह उस मन्त्र का 'देवता' है। देवता शब्द सामान्यतः देववाची है, परन्तु मन्त्रों के प्रकरण में यह सदा

---

१. 'साम' शब्द की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। इसे भारतीय वैय्याकरण 'सो' धातु से निर्मित बताते हैं। सो अर्थात् कष्ट देना। इन मन्त्रों के उच्चारण में चूंकि कष्ट होता है अत एव ये 'साम' कहे जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में साम का आध्यात्मिक अर्थ बताया है जो व्याकरण से सिद्ध होना सम्भव नहीं। उन्होंने वर्णविश्लेष कर सा (वाणी) + अम (उच्छ्वास लेना) इन अवयवों से घटित 'साम' शब्द माना है, कारण–टीकाकार के मत से–सामगान में वाक् और उच्छ्वास दोनों का ही उपयोग होता है।

शाब्दिक अर्थ का ही बोध नहीं कराता-कारण, ऐसे अनेक सूक्त हैं जिसमें साक्षात् देव की ओर कोई सङ्केत नहीं है, परन्तु यूप, दुःस्वप्न की शान्ति, राजन्य की दानवीरता, रथ, पटह, शस्त्रास्त्र, सूत, अश्व आदि लौकिक द्रव्यों का उल्लेख है जो उस मन्त्र के देवता समझे गये हैं।

वेदभाष्य के यशस्वी लेखक श्री माधवसायण ने वेद के उस भाग को जो गद्यात्मक है 'ब्राह्मण' कहा है जिसमें कहीं आदेश हैं तो कहीं विधि-विधान का विवरण है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण वेद का वह भाग है जिसमें यज्ञानुष्ठान की प्रेरणा दी गई है, उसका उद्देश्य बताया है, मन्त्रों का विनियोग दिया है, कहीं कहीं आख्यानों के द्वारा यज्ञप्रसङ्ग की महत्ता बतलाई है और कहीं आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन भी किया है। वास्तव में वेद का ब्राह्मणभाग श्रौतकर्म का आधार है और साथ ही साथ उपनिषदों का मूल है। समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास इसी वेदभाग से हुआ है।[1]

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को श्रुति संज्ञा दी गई है। हिन्दूधर्म ने इन दोनों भागों का आविर्भाव एक ही समय का माना है। ये शाश्वत काल से चले आ रहे हैं। तथापि यह निश्चित है कि ब्राह्मण भाग निस्सन्देह संहिता के कुछ कुछ अंशों के बाद का है, कारण ब्राह्मणग्रन्थों में संहिता का उल्लेख मिलता है और कहने की आवश्यकता नहीं कि इतना विशालकाय साहित्य युगों में रचा जा सकता है, एक साथ नहीं। इस तथ्य के लिये पर्याप्त

---

१. देखो-ब्रह्म उण्ट डिश्र ब्राह्मणेन – पृ० २७…; तथा वेबर – इण्डीशे लिटरट्यूरगेशिख्टे – पृ० १२…… ।

प्रमाण उपलब्ध हैं कि वैदिक साहित्य में समाज की भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ, धार्मिक विचारों के विविध पहलू और भाषा विकास के भी विभिन्न स्तर प्रतिबिम्बित हैं। इन विभिन्न युगों का अवभास इस समय अवश्य दुस्साध्य हो गया है, कारण वैदिक साहित्य का बहुत कुछ अंश लुप्त है और जो आज सुरक्षित अवस्था में हमें मिलता है वह बहुत कुछ कम है। गुरुपरम्परा यह बताती है कि वेदव्यास ने वेदों का सङ्ग्रह कर अपने चार शिष्यों को सिखाया। इस तरह सुदीर्घकाल में शिष्य प्रशिष्य के हाथ लगते मन्त्र एवं ब्राह्मणों में अनेक शाखाएँ एवं परिवर्त्तन और त्रुटियाँ होना बिलकुल स्वाभाविक है। उसी कारण संहिता में पाठभेद हो गये हैं और साथ ही साथ अर्थभेद भी। वेदों की उपलब्ध शाखाओं का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगे चलकर विभिन्न शाखाओं में वैमनस्य की भावना भी जग उठी थी। इसके कारण अवश्य गम्भीर होने चाहिए। उदाहरणार्थ—पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्य में यह वचन मिलता है, 'वसिष्ठ का कथन है अन्य शाखा के नियमों का अनुसरण करना दोषावह है। कोई भी विधिवेत्ता शाखान्तर के विधान के अनुसार काम नहीं करता, जो करता है वह अपनी शाखा का विद्रोही 'शाखारण्ड' कहलाता है। अपनी शाखा का उत्सर्ग कर अन्य शाखा का ग्रहण करने वाला अन्धतामिस्र में डूबता है, कारण उसने अपने श्रद्धेय ऋषि की अवहेलना की है।' धर्मशास्त्र में अन्यत्र उल्लेख है—'जो अपनी परम्पराओं का उच्छेद कर अज्ञानवश अथवा लोभवश अन्य परम्परा का अनुगामी बनता है उसका अधःपात एवं सर्वनाश ध्रुव है।' छान्दोग्य परिशिष्ट में भी कहा है—'वह मूढ जो

अपनी शाखा से सम्बन्ध विच्छेद कर, शाखान्तर का अनुयायी बनता है अपने कर्मों का फल नहीं पाता।' इन वाक्यों से प्रमाणित होता है कि प्रत्येक शाखा अपने संहिता के पाठ को ही शुद्ध समझती रही, और उनका यह मतभेद केवल पाठान्तर तक ही सीमित न रहा परन्तु विनियोग विधि तथा कर्मकाण्ड में उसका भारी असर पड़ा है। वेदों की कितनी विभिन्न शाखाएँ बन गई इसका विवरण चरणव्यूह तथा अथर्वण रहस्य में सविस्तर दिया गया है। कालक्रम से लुप्त होते-होते आज ऋग्वेद की एकमात्र शाखा जीवित है। यजुर्वेद की तीन-चार शाखाएँ मिलती हैं, सामवेद की दो शाखाएँ तथा अथर्व की एक[1] ही शाखा जीवित है।

ब्राह्मण भाग के आधारभूत मन्त्रभाग का स्वरूप और उनका परस्पर सम्बन्ध समझने के लिये इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि प्राचीनकाल के हिन्दू यागों के अनुष्ठान द्वारा देवतानुग्रह सम्पादन करने में अपार श्रद्धा रखते थे। धीरे-धीरे यज्ञिय विधि इतनी विकट और विविध हो चली थी कि याग के अनुष्ठान में अत्यधिक सावधान होना आवश्यक हो गया था। जरा गफ़लत करने से यजमान को बड़ी हानि उठाने की आशङ्का सदा बनी रहती थी। प्रारम्भ में ये विधियाँ कुछ सरल थीं, न उसमें अधिक समय लगता था और न किसी की सहायता ही अपेक्षित थी। परन्तु ज्यों-ज्यों यज्ञ-यागादि अधिकाधिक लोकप्रिय होते गये, पुरोहित वर्ग ने अपने प्रभुत्व को जमाने का तथा जीविका का सुगम साधन बनाने का यह तरीक़ा अपनाया और विना पुरोहित

१. एक ओर शाखा के सम्बन्ध में देखो – रूड़फ रॉथ – 'डेर अथर्ववेद इन् काश्मीर' – टयूबिन्गेन – १८७५।

के यज्ञ नहीं किया जा सकता—यह नियम बना डाला। राजसूय, ज्योतिष्टोम जैसे महायाग केवल राजा एवं धनी जन के द्वारा ही किये जाते थे, और ऐसे यागों में कम से कम १६ ऋत्विज् की अपेक्षा तो होती ही थी। इन ऋत्विजों के विविध नाम तथा अधिकार होते थे।[1] ये भिन्न-भिन्न वेद के हुआ करते थे। ऐसा वचन मिलता है—'होता उसे चुनो जो ऋग्वेद का ज्ञाता हो; अध्वर्यु यजुर्वेदी हो; उद्गाता सामवेद का वेत्ता हो और ब्रह्मा अथर्ववेद का ही हो।' इसका रहस्य यजमान को इस तरह समझाया जाता है—'ऋग्वेद के सूक्तों का स्थान पृथ्वी है, अत एव ऋग्वेदी होता पाकर यजमान को भूराज्य प्राप्त होगा; यजुर्वेद के मन्त्रों का स्थान अन्तरीक्ष है, अत एव यजुर्वेदी अध्वर्यु को पाकर यजमान अन्तरीक्ष का साम्राज्य पायगा; सामवेद के गानों का स्थान स्वर्ग है, अत एव सामवेदी उद्गाता के सहयोग से यजमान को स्वाराज्य प्राप्त होगा; आथर्वण मन्त्रों का स्थान ब्रह्मलोक है, अतः ब्रह्मा के स्थान पर अथर्ववेदी ऋत्विज् की नियुक्ति करने से यजमान ब्रह्मलोक प्राप्त करता है।'

इस प्रकार के वचनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दिनों-दिन ऋषियों की प्रवृत्ति ऋग्वेद की अपेक्षा दूसरे वेदों को अधिक महत्त्व देने की चल पड़ी थी और प्रयोग विधि में प्राचीनतम वेद की अपेक्षा अन्य वेदों के द्वारा सम्पादित अनुष्ठानों को अधिक यशस्वी एवं फलदायक मानने लगी थी। इसका कारण संक्षेप में यह है:—

---

१. देखो-पृष्ठ ८ पूर्वत्र।

ऋग्वेद-सूक्तों में वर्णित अर्चा किसी लम्बे चौड़े यज्ञविधान का निर्देश नहीं करती, परन्तु देवताविशेष को अर्पण करने के लिये विहित बलि तक ही सीमित प्रतीत होती है। कहीं कहीं दो चार ऋत्विजों द्वारा सम्पाद्य याग का उल्लेख है, परन्तु सूक्तों के भावों को देखते यह स्पष्ट है कि ऋचाएँ मूलतः यागविधि के लिये निर्मित नहीं की गई थीं, परन्तु धीरे धीरे पुरोहितों द्वारा याज्ञिय विधि के विस्तार कर लेने पर उनका विनियोग धार्मिक अनुष्ठान में प्रचलित हुआ। ऋग्वेद के कुछ मन्त्र तो ऐसे हैं जिनका विनियोग इस तरह आसानी से किया जा सकता है परन्तु ऐसे भी कई सूक्त हैं जिनका प्रयोगविधि में विनियोग हठात् आकृष्ट प्रतीत होता है। जहाँ ऋषि ने ऐसी सूक्तियाँ प्रस्तुत की हैं जो भक्तिभाव की सहज उर्मियों को लहराती हैं उनका विधिविधान में कृत्रिम विनियोग बहुत ही अनुपपन्न लगता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये साम तथा याजुष मन्त्रों का प्रचलन बढ़ा। ऋग्वेद के अनुष्ठानोपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन कर सामसंग्रह किया गया। यजुर्वेद की रचना के लिये वास्तविक प्रेरणा यज्ञिय विधि की आवश्यकताओं से ही मिली। ऋग्वेद के मन्त्रों का समावेश यजुर्वेद में भी पर्याप्त है। इनके अतिरिक्त यागानुष्ठान के लिये अपेक्षित कई और गद्यरचित मन्त्रों का निवेश किया गया जिनके कारण यजुर्वेद की स्वतन्त्र स्थिति दृढ़ बनी। अब अनुष्ठान की दृष्टि से यजुर्वेद सामवेद की अपेक्षा अधिक एवं ऋग्वेद से और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ, और पौरोहित्य ने उसका सम्मान बढ़ा दिया – यहाँ तक कि तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य की भूमिका में आचार्य सायण कहते हैं 'यजुर्वेद वह भित्ति है जिस पर इतर दो वेद केवल चित्रमात्र हैं।' साम और ऋक् की तरह

यजुर्वेद का प्रामाण्य भी अपौरुषेय सत्ता पर आधारित है और उसके ऋषि वैसे ही मन्त्रद्रष्टा समझे जाते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त आंशिक सत्य है, कारण ऋग्वेद का चाहे कितना ही अंश लुप्त क्यों न हो गया हो, यह सर्वसम्मत है कि ऋग्वेद सारा ही छन्दोबद्ध था और उसमें गद्यभाग का अभाव एक निश्चित बात है। इतना ही नहीं, वरन् इस सिद्धान्त की निर्बलता अधोलिखित तुलनात्मक विवरण से प्रमाणित हो जायगी और यह स्पष्ट होगा कि उद्धृत सूक्तों का एवं मन्त्रों का मूल ऋग्वेद के सूक्तों में कहाँ स्थान है।

सामवेद के प्रथम सूक्त में दस मन्त्र हैं जिनमें से नौ मन्त्र उपलब्ध ऋग्वेद के हैं। इन मन्त्रों का ऋग्वेद में कहाँ कैसा स्थान है इस ओर यदि दृष्टिपात किया जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं:—

सामवेद —	ऋग्वेद —		
भाग—१	मण्डल	सूक्त	मन्त्र
मन्त्र प्रथम	६	१६	१०
” द्वितीय	६	१६	१
” तृतीय	१	१२	१
” चतुर्थ	६	१६	३४
” पञ्चम	८	७३	१
” षष्ठ	८	६०	१
” सप्तम	६	१६	१६
” अष्टम	८	११	७
” नवम	६	१६	१३

निम्नलिखित मन्त्रों में भी इसी तरह साम्य है—

सामवेद —	ऋग्वेद —		
मन्त्र	मण्डल	सूक्त	मन्त्र
१-३७०	८	८६	१०
,,-३७१	१०	१४७	१
,,-३७२		अनुपलब्ध	
,,-३७३	१	५७	४
,,-३७४	३	५१	४
,,-३७५	१०	४३	१
,,-३७६	१	५१	१
,,-३७७	१	५२	१
,,-३७८	६	७०	१
,,-३७९	१०	१३४	१
,,-३८०	१	१०१	१

यदि इस प्रकार के साम्य का अन्वेषण शुक्लयजुर्वेद संहिता के २२-२५ अध्याय में भी किया जाय तो ३४ अंश वाले २२ वें अध्याय में केवल चार ही मन्त्र ऋग्वेद के मिलते हैं —

शुक्लयजुर्वेद —		ऋग्वेद —		
अध्याय	मन्त्र	मण्डल	सूक्त	मन्त्र
२२	१०	१	२२	५
,,	१५	५	१४	१
,,	१६	३	११	२
,,	१८	९	११०	३

पुनः २३ वें अध्याय में (जिसमें ६५ अंश हैं) पाँच मन्त्र उभयत्र मिलते हैं —

शुक्लयजुर्वेद —		ऋग्वेद —		
अध्याय	मन्त्र	मण्डल	सूक्त	मन्त्र
२३	३	१०	१२१	३
"	५	१	६	१
"	६	१	६	२
"	१६	१	१६२	२१
"	३२	४	३९	६

शुक्लयजुर्वेद का २४वाँ अध्याय गद्यरूप है अत एव उसका कोई भी भाग ऋग्वेद में मिलना सम्भव नहीं, परन्तु २५वें अध्याय में (जिसमें ४७ अंश हैं) निम्नलिखित साम्य मिलता है—

शुक्लयजुर्वेद —	ऋग्वेद —		
अध्याय २५-मन्त्र	मण्डल	सूक्त	मन्त्र
१२	१०	१२१	४
१३	१०	१२१	२
१४-२३	१०	८९	१-१०
२४-४५	१	१६२	१-२२
४६	१०	१५७	१, ३, २

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सामवेद तथा यजुर्वेद की प्राचीन संहिता का जो अवशेष है वह केवल अंशात्मकरूप से ऋग्वेद ही है—ऋग्वेद के सूक्त इधर-उधर बिखरे रखे हैं, एक ही सूक्त के मन्त्र अलग-अलग जगह पर उठाकर रख दिये गये हैं, विभिन्न सूक्तों के मन्त्र एकस्थ कर दिये हैं, यहाँ तक कि विभिन्न सूक्तकारों की रचनाएँ एक ही अध्याय में संगृहीत कर रख दी हैं मानों वे एक ही लेखक की

रचनाएँ हों। ऐसी अवस्था में यजुर्वेद में रचनागत सौष्ठव लुप्त हो जाय यह तो सर्वथा प्रत्याशित ही है। यह अवश्य आश्चर्य की बात है कि सामवेद ने अपना स्वरूप अधिकांश बनाये रखा और आज भी जिस रूप में वह उपलब्ध है उसमें अपनी वास्तविक सुन्दरता विद्यमान है। इसी वजह वह ऋग्वेद की रचना से पृथक् प्रतीत होता है। अथर्ववेद की रचना भी यजुर्वेद की भाँति है; अन्तर इतना ही है कि उसमें ऋग्वेद से उद्धृत अंशों में यजुर्वेद की अपेक्षा कहीं अधिक अंश और जोड़ दिया गया है। निश्चय यह सबसे अन्तिम वेद है, यहाँ तक की इसकी संज्ञा 'अथर्ववेद' जो लौकिक साहित्य के युग में सर्वत्र प्रचलित थी प्राचीन उपनिषदों में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इन पुरातन उपनिषदों में अर्थवाङ्गिरस अथवा भृगु अङ्गिरस की श्रुति के नाम से अथर्ववेद की ओर सङ्केतमात्र उपलब्ध होता है। मधुसूदन का मत है कि अथर्ववेद का विनियोग किसी भी यज्ञिय विधि में नहीं किया जाता है—उसका प्रयोग केवल अरिष्ट-शमन, मन्त्र-तन्त्र अथवा यागादि में विघ्नविनाश के लिये किया जाता था। सम्भवतः इसी हेतु अथवा मन्त्रों में प्रतिपादित रहस्य के कारण अथर्ववेद ने वह महत्ता पाई जो वर्गविशेष में इतर पुरातन वेदों से भी कहीं अधिक कही जा सकती है।

चारों वेद के सामान्यरूप का सङ्क्षिप्त परिचय देने के पश्चात् अब उनकी अपनी-अपनी विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ कह देना यहाँ पर्याप्त होगा। वैदिक सूक्तों में प्रतिबिम्बित हिन्दू समाज की स्थिति किसी आदिवासी चरवाहों की जाति की तरह न थी, परन्तु उस समय सभ्यता की बढ़ी-चढ़ी दशा में हिन्दू समाज था यह स्पष्ट प्रतीत होता है। वेदों में ग्राम एवं नगरों का बहुत्र

उल्लेख मिलता है, प्रतापी राजाओं का तथा उनके अतुल वैभव का भी वर्णन है। कृषि के अतिरिक्त जनता कई कलाओं में भी प्रवीण पाई जाती है। उस समय के लोग कपड़ा बुनना, धातुओं को गलाना, रथों को बनाना, लौह तथा स्वर्ण के कवच और अन्यान्य आभूषण गढ़ना जानते थे। वेदों से यह भी पता चलता है कि उस समय के लोग सुई से कपड़ा सीना जानते थे तथा सङ्गीतवाद्य के निर्माण में भी वे निष्णात थे। उन्हें न केवल समुद्र से परिचयमात्र ही था अपितु वे समुद्रयान भी करते रहते थे। उन्हें अगदतन्त्र से भी जानकारी थी, खगोल विद्या में वे बढ़े-चढ़े थे तथा सौर एवं चान्द्र वर्षों में सामञ्जस्य स्थापित करने की दृष्टि से वे अधिक मास की कल्पना भी कर चुके थे। सभ्यता के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले दोषों से भी वे अनभिज्ञ न थे — सूक्तों में वाराङ्गनाओं का वर्णन मिलता है, अवैध सन्तति की चर्चा है तथा चोरों ओर जुआरियों का भो उल्लेख है। एक ऐसा भी विचित्र सूक्त है जिसमें हिन्दू समाज में आज भी प्रचलित जटिल दायविभाग के नियमों का पूर्वरूप प्रतीत होता है और जिससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के कुछ सूक्तों की रचना के युग में दायविभाग के वे नियम प्रचलित हो चुके थे। जाति - व्यवस्था ऋग्वेद के समय बनी नहीं थी, कारण जिस अर्थ में इसका प्रयोग आगे चलकर चल पड़ा वह आशय कहीं भी सूक्तकारों की रचनाओं में स्फुट नहीं होता।[1]

---

१. देखो—विल्सन द्वारा सम्पादित-ऋग्वेद भाग १, जिसका पुनः संस्करण एफ़्. ई. हॉल द्वारा भाग २, ३; तथा भाग ४ का मूल संस्करण ई. बी. कॉवेल द्वारा (लन्दन १८५०–१८६६ में) किया गया है।

: १ :

आज ऋग्वेद हमें केवल शाकल शाखा में ही उपलब्ध है। यह संहिता आठ अष्टकों में अथवा दश मण्डलों में विभाजित है। संहिता में १०२८ सूक्त पाये जाते हैं। प्रत्येक सूक्त में अनेक मन्त्र हैं। इस संहिता में १,५३,८२६ पद हैं। दश मण्डलों में से आठ मण्डलों के प्रथम सूक्त अग्निदेव को तथा दूसरा सूक्त इन्द्र को और पश्चात् विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं। अष्टम मण्डल का प्रथम सूक्त इन्द्र से सम्बन्ध रखता है और नवम मण्डल तो प्रायशः सोम का ही प्रतिपादक है।

जहाँ तक सूक्तों के रचयिता का सम्बन्ध है यह पता चलता है कि द्वितीय मण्डल मुख्यतः गृत्समद की, तृतीय विश्वामित्र की और चतुर्थ वामदेव की रचना है। पञ्चम मण्डल की रचना अत्रिकुल ने, छठे की भरद्वाजकुल ने, सातवें की वशिष्ठकुल ने तथा शेष भाग की विविध ऋषियों ने की है।[1]

1. इस संहिता के मूलपाठ का रोमन लिपि में थ्योडोर ऑफ्रेक्ट द्वारा सम्पादन होकर बर्लिन से सन् १८६१ में प्रकाशन हुआ। द्वितीय संस्करण दो भागों में बर्लिन से १८७७ में प्रकाशित हुआ। सायण भाष्य सहित संहिता मैक्स म्यूलर द्वारा प्रकाशित की गई है; संहिता पाठ तथा पदपाठ पृथक् पृथक् भी लन्दन से सन् १८७३ में दो भागों में निकला जिसका नूतन संस्करण लन्दन से सन् १८७७ में प्रकाशित हुआ। अनुवादों में, एच्. एच्. विल्सन सायण भाष्य के अनुसार संहिता का पूरा अनुवाद हिन्दू परम्परा के अनुरूप करके छोड़ गये थे जिसके चार भाग मुद्रित हो चुके हैं। दूसरा, बेन्फ़ी कृत अनुवाद है जो 'ओरियण्ट उण्ट ऑक्सिडेण्ट' के भाग १-२ में गैटिङ्गन

ऋग्वेद का ब्राह्मणभाग दो ही ग्रन्थों में अवशेष है—ऐतरेय तथा साङ्ख्यायन ब्राह्मण। ऐतरय में आठ पञ्चिकाएँ हैं जिनमें फिर पाँच-पाँच अध्याय हैं। सब अध्यायों में मिलकर २८५ खण्ड हैं। साङ्ख्यायन अथवा कौषीतकी ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय पुनः अनेक खण्डों में विभाजित है। यहाँ कुछ उदाहरण ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत किये जाते हैं जिससे यह पता चलेगा कि इस कोटि की रचनाओं में यज्ञिय विधान किस प्रकार का है तथा उनका रहस्य किस तरह समझाया गया है—

प्रथम उदाहरण सोम लाने की विधि के सम्बन्ध में है—

"सोमराजा गन्धर्वों में निवास करते थे। देवताओं और ऋषियों ने सोचा किस तरह सोमराजा हम लोगों में आकर रहने के लिये प्रोत्साहित किये जा सकते हैं। वाग्देवी ने कहा, 'गन्धर्वों को ललनाओं के प्रति सविशेष आकर्षण है, अत एव मैं सुन्दरी का रूप धारण करती हूँ और आप मुझे विनिमय में देकर उनसे सोम खरीद लें।' देवता बोले—'हम तुम्हारे बिना कैसे रह सकेंगे ?' वह बोली, 'आप मुझे गन्धर्वों को बेच दीजिये, जब चाहोगे मैं तुम्हारे पास लौट आऊँगी।' तब देवताओं ने वैसा ही किया। देवताओं ने एक भव्यकाय विवसना नारी

से सन् १८६२–६४ में प्रकाशित हुआ है—यह अनुवाद प्रधानतः स्वतन्त्र है। तीसरा, मैक्स म्यूलर द्वारा टिप्पणी सहित अनुवाद है जिसका प्रथम भाग (१–१२ सूक्त) सन् १८६९ में प्रकाशित हुआ। जर्मन भाषा में स्वतन्त्र दो अनुवाद ग्रासमन तथा लुड्विग द्वारा किये गये हैं और वे भी प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त आर. ग्रिफिथ द्वारा अंग्रेजी पद्यानुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

के रूप में वाग्देवी को सोम के बदले गन्धर्वों को दे दिया। इसी घटना के प्रतीकस्वरूप आज भी यज्ञ के समय एकहायन गौ को सोम के निष्क्रय में यजमान छोड़ देता है। यजमान चाहे तो उस गौ को ख़रीदकर ले सकता है, कारण वाग्देवी पुनः देवताओं के पास लौट आई थी। सोमक्रय के पश्चात् वाग्देवी गन्धर्वों के साथ चली गई परन्तु आहवनीय अग्निचयन के समय वह लौट आई थी।"

यूप के सम्बन्ध में ब्राह्मण - ग्रन्थों में निम्नलिखित विचार प्रकट किये गये हैं —

"मीमांसक प्रश्न उठाते हैं — यूप अग्नि के सम्मुख स्थित रहे, अथवा अग्नि में विसर्जित कर दिया जाय ? उत्तर — यदि यजमान को पशु की अभिलाषा हो तो यूप का विसर्जन न करे। इस सम्बन्ध में यह गाथा कही जाती है—'एक समय देवता जब पशुवृन्द को आहार के लिये ले जाने लगे थे तो वे निश्चल खड़े न रहे। कुछ दूर जाने पर पशुवृन्द ने देवताओं की ओर मुँह कर बार-बार कहा, 'तुम हमें नहीं पाओगे, नहीं, नहीं।' इतने में ही देवताओं की दृष्टि यूप की ओर गई और उन्होंने यूप के द्वारा पशुओं को भयभीत किया और वे लौट आये।' यही कारण है कि आज भी पशुओं को यूप की परिक्रमा करवाई जाती है। इसके पश्चात् पशु निश्चल खड़े रहे······। यजमान अपने आप को समस्त देवताओं को समर्पण करता है। अग्नि और सोम समस्त देवताओं के प्रतिनिधि हैं। जब यजमान अग्नि और सोम को पशुबलि समर्पण कर देता है वह उन्मुक्त हो जाता है। कतिपय आचार्यों का मत है कि अग्निषोमीय पशु दुरङ्गा होना चाहिये, कारण वह दो देवताओं के प्रीत्यर्थ

अर्पित किया जाता है। परन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है। पीवरपशु का बलि देना चाहिये, कारण यजमान का अभ्युदय पशु की पीनता के अनुपात में होता है। कहा जाता है — 'अग्निषोमीय पशु का भक्षण निषिद्ध है, कारण वह यजमान का प्रतिनिधि है, अतः जो उसका भक्षण करता है वह महामांस के भोजन का पातकी होता है।' वास्तव में यह भी तथ्य नहीं— कारण अग्निषोमीय पशु इन्द्रबलि है, इन्द्र ने अग्नि और सोम की सहायता से वृत्रासुर का नाश किया था अत एव विजयी इन्द्र से उन दोनों ने वर माँगा और इन्द्र ने सोमपान के पूर्वदिन अर्पित पशुबलि को अपनी ओर से वर रूप में उन्हें दे दिया; वह इन्द्रदत्त प्रसाद है, अत एव वह ग्राह्य है।[1]

: २ :

सामवेद की रचना मुख्यतः उन्हीं यज्ञों के हित की गई है जिनका प्रधान अङ्ग सोमरस है। सोमसम्बन्धी यज्ञों में प्रमुख भाग ज्योतिष्टोम है जिसकी सात संस्थाएँ हैं[2]। इन संस्थाओं में अग्निष्टोम प्रमुख है और शेष आभ्युदयिक हैं। सोमयाग में साम-मन्त्रों का गान विहित है, और तदनुसार गानसंहिताएँ रची गई हैं।[3] सामवेदसंहिता दो शाखाओं में उपलब्ध है —

---

१. देखो—हेग द्वारा सम्पादित 'ऐतरेय ब्राह्मण' भाग २, पृ० ५९, ७८, बम्बई १८६३।

२. देखो पूर्वत्र पृ० ३२।

३. देखो पूर्वत्र पृ० ३९।

(१) राणायणीय[1] और (२) कौथुम। सामसंहिता में दो भाग हैं—(१) छन्दोग्रन्थ अथवा आर्चिक, और (२) स्तौभिक अथवा उत्तर ग्रन्थ।[2]

भारतीय परम्परा के अनुसार सामवेद से सम्बद्ध आठ ब्राह्मणग्रन्थ हैं। (१) प्रौढ़ अथवा पञ्चविंश, (२) षड्विंश, (३) सामविधि, (४) आर्षेय, (५) देवताध्याय, (६) वंश, (७) संहितोपनिषद्ब्राह्मण और (८) उपनिषत् अर्थात् छान्दोग्य। इनके अतिरिक्त एक और परवर्त्ती ब्राह्मण है 'अद्भुत ब्राह्मण[3]', जिसका उल्लेख सायण ने नहीं किया है।

: ३ :

यजुर्वेद का इतिहास कुछ भिन्न है। शाखाभेद का कारण कुछ विलक्षण है। एक संहिता कृष्णयजुर्वेद है और दूसरी शुक्ल। इस सम्बन्ध में पुराणों में वैशम्पायन की कथा कही है जो संहिता के मूल भेद का कारण मानी गई है[4]। कथा का

---

१. सामवेद की राणायणीय शाखा का सम्पादन तथा अनुवाद जे. स्टीवन्सन (लन्दन १८४२-४३) तथा टॉमस बेन्फ़ी (लाइपफ़िग १८४८) द्वारा किया गया है।

२. विशेष विवरण के लिए देखो—पृ. ३३ पूर्वत्र।

३. अद्भुत ब्राह्मण तथा वंश ब्राह्मण का सम्पादन ए. वेबर ने किया है: अद्भुत ब्राह्मण 'इण्डीशे स्टुडियन' भाग ४ (बर्लिन-१८५८) में तथा वंश ब्राह्मण 'अबहण्ड्लुङ्गेन देर क्यूनिग्लिखेन अकाडेमी देर विस्सिंशाफ्टेन ट्सू बर्लिन (१८५८) में प्रकाशित हुए हैं। प्रायः सब ही ब्राह्मण ग्रन्थों के ए. बुर्नेल द्वारा सम्पादित संस्करण मुद्रित हो चुके हैं।

४. देखो पूर्वत्र पृ० ३५-३६।

आधार जो भी कुछ हो इतना सत्य है कि कृष्ण यजुर्वेदसंहिता शुक्ल यजुर्वेदसंहिता से प्राचीन है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि पूर्वसंहिता की अपेक्षा शुक्लयजुर्वेद की संहिता अधिक परिमार्जित एवं विशुद्ध है। इसमें मन्त्र और ब्राह्मण भाग का सम्मिश्रण नहीं है तथा रचना एवं कर्मकाण्ड दोनों ही दृष्टि से यह अधिक व्यवस्थित है। दोनों संहिताओं का प्रतिपाद्य लगभग समान है। दर्शपूर्णमास और अश्वमेध याग याजुषसंहिता के मुख्य विधान हैं। पुरुषमेध का भी उल्लेख यजुर्वेद में है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। यह केवल प्रतिरूप है।

कृष्णयजुर्वेद की संहिता दो शाखाओं में उपलब्ध है—(१) आपस्तम्ब और (२) चरक[1]। आपस्तम्ब शाखा की संहिता का नाम तैत्तिरीय संहिता है जिसमें सात काण्ड हैं। सारी संहिता में ४४ प्रपाठक हैं, जिनमें ६५१ अनुवाक और कुल २१९८ कण्डिकाएँ हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेयिसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी दो शाखाएँ हैं। (१) माध्यन्दिन[2] और (२) काण्व। माध्यन्दिनी संहिता में ४० अध्याय हैं, जो ३०३ अनुवाकों

---

१. सायणमाधव - भाष्य - सहित यह संहिता ई. रोअर तथा ई. बी. कॉवेल द्वारा संपादित 'बिब्लोथिका इण्डिका (कलकत्ता, १८६०–६४)' में प्रकाशित हो चुकी है।

२. इस संहिता का महीधर भाष्य सहित संस्करण ए. वेबर द्वारा (बर्लिन १८५२ में) सम्पादित हुआ है। मूल पाठ रोमन अक्षरों में 'इण्डीशे स्टूडिएन' के भाग १२ और १३ में प्रकाशित हुआ है। एक और संस्करण महीधर भाष्य तथा बँगला अनुवाद सहित कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है।

में विभक्त हैं। इसमें कुल १६७५ कण्डिकाएँ हैं। कृष्णयजुर्वेद का मुख्य ब्राह्मणग्रन्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मणग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण[2] है जो सर्वथा एक परिपूर्ण एवं सुसम्बद्ध रचना है।

: ४ :

अथर्ववेद की परिधि में किसी यागविशेष के अनुष्ठान का उल्लेख नहीं है। अथर्ववेद का लक्ष्य शान्ति, मङ्गल की आशंसा तथा अभिचार ही है। आचार्य ह्विटनी का कथन है कि अथर्ववेद में उन मन्त्र-तन्त्रों का समुदाय है जिनका अनुष्ठान करनेवाला अपनी अथवा यजमान की अनेकानेक लौकिक कामनाओं की पूर्त्ति के लिये प्रयोग करता है। अधिकतर आथर्वण मन्त्रों का प्रयोग दीर्घ आयु के लिये अथवा असाध्य रोग से मुक्त होने के लिये बताया गया है।[3] एतदर्थ कभी रक्षा-करण्ड अथवा अभिमन्त्रित माला धारण करवाई जाती है अथवा किसी जड़ी-बूटी का प्रयोग किया जाता है। लक्ष्मी-प्राप्ति, शत्रु-नाश, क्षुद्र बाधाओं का निवारण, मोहन, वशीकरण आदि मनोरथों की पूर्त्ति के लिये अथर्ववेद में विविध कल्प दिये गये हैं। कहा जाता है[4] कि यज्ञानुष्ठान में भी प्राचीन काल से

---

१. इसका सम्पादन राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा किया गया है। यह ग्रन्थ 'बिब्लोथिका इण्डिका' में कलकत्ते से १८६०-६५ में प्रकाशित हुआ है।

२. यह ग्रन्थ, जिस पर सायण जैसा भाष्य भी है, ए. वेबर द्वारा संपादित किया जा चुका है, (बर्लिन-१८५५)।

३. देखो—जर्नल अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, भाग-३, पृ. ३०८।

४. देखो—मैक्स म्यूलर—प्राचीन संस्कृत साहित्य, पृ. ४४७······।

अथर्ववेद का उपयोग विघ्न-बाधा के निवारणार्थ प्रचलित था। हो सकता है कि यह ठीक ही हो, तथापि अथर्ववेद के अध्येता इस ओर इतना महत्त्व नहीं देते जितना इतर लक्ष्य की पूर्त्ति पर जोर देते हैं। अथर्वणरहस्य से पता चलता है कि वेदत्रयी से धर्मानुसन्धान ही मानव कर सकता है परन्तु मोक्ष की प्राप्ति तो अथर्व से ही हो सकती है। यह सिद्धान्त अथर्ववेद के चूलिकोपनिषत् में स्पष्टरूप से प्रतिपादित है—'वे ब्राह्मण तथा अन्य व्यक्ति भी जो ब्रह्मवेद में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या को जानते हैं अवश्य ही ब्रह्म में लीन हो जाते हैं'। इसी तात्पर्य की ओर सङ्केत शौनक ब्राह्मण में भी पाया जाता है। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहने का कारण यह नहीं कि वह ब्राह्मण पुरोहितों का वेद है अपितु ब्रह्मज्ञान के रहस्य का निर्देशक है। सम्भवतः यज्ञिय विधि में निरुपयोगिता के कारण अथवा आभिचारिक विधियों की हेयता के कारण अथर्ववेदियों ने उसे आध्यात्मिक रूप देकर औपनिषद रहस्य का मूलस्रोत ठहरा दिया है।

अथर्ववेद इस समय केवल शौनक शाखा का ही उपलब्ध है। वर्तमान संहिता[1] में केवल २० काण्ड हैं। प्रथम अठारह काण्ड में ३४ प्रपाठक हैं। कुल मिलाकर इस संहिता में ९४ अनुवाक हैं। प्रत्येक अनुवाक में कई मन्त्र होते हैं। १०वें काण्ड में एक ही प्रपाठक है। उन्नीसवें काण्ड में प्रपाठक नहीं हैं, केवल ७ अनुवाक ही हैं। बीसवें काण्ड में भी केवल अनुवाक ही हैं जिनकी सङ्ख्या नौ है। बीसवें काण्ड के तीसरे अनुवाक में तीन पर्याय हैं।

---

१. इस संहिता का आर्. रॉथ तथा डबल्यू. डी. ह्विटनी द्वारा सम्पादित संस्करण बर्लिन से सन् १८५६ में प्रकाशित हुआ है।

अथर्ववेद का एक ही ब्राह्मणग्रन्थ इन दिनों उपलब्ध है। वह है शौनक अथवा गोपथ ब्राह्मण[1]। मैक्स म्यूलर का मत है, उक्त ब्राह्मण की रचना वाजसनेयियों और चरकों में शाखाभेद स्थिर होने जाने तथा वाजसनेयि-संहिता के निर्माण के पश्चात् हुआ है।' इसका आधार यह है कि अन्य वेदों की प्रथम पङ्क्तियाँ गोपथ में उद्धृत हैं और जहाँ-जहाँ यजुर्वेद का पंक्ति दी गई हैं वहाँ वाजसनेयियों का पाठ उद्धृत है न कि तैत्तिरीयों का।[2]

: ५ :

सब ही संहिताओं की अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं। अनुक्रमणियों में प्रत्येक सूक्त की प्रथम पङ्क्ति दी हुई है, साथ ही साथ मन्त्र-सङ्ख्या, देवताओं का नामसङ्कीर्तन, ऋषियों का गोत्रनाम तथा प्रत्येक मन्त्र के छन्द का विवरण भी मिलता है। इस श्रेणी की रचनाओं में सर्वानुक्रमणी प्रमुख है जिसका रचयिता शौनक है।

आगे चलकर 'वेद' यह संज्ञा इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों को भी देने का यत्न किया गया परन्तु वास्तव में यह संज्ञा इन ग्रन्थों के अर्थ में प्रचलित हो न पाई।

: ६ :

चरणव्यूह में उपवेदों का भी उल्लेख है। कहा जाता है कि ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है। आयुर्वेद के प्रणेता चरक एवं सुश्रुत माने जाते हैं। यह भैषज्य-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है।

---

१. परिचयात्मक निबन्ध के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है, (कलकत्ता—१८७२)।

२. देखो—मैक्स म्यूलर कृत 'प्राचीन संस्कृत साहित्य'-पृ. २५२।

यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है जो शस्त्रविद्या का उपदेश करता है। सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद है जिसका विषय सङ्गीतविद्या है। अथर्ववेद का उपवेद शिल्पशास्त्र है जिसमें वास्तुकला तथा यन्त्रविज्ञान का विवरण है। कुछ आचार्यों के मत से अथर्ववेद का उपवेद अर्थशास्त्र है जिसमें व्यवहारज्ञान, समाजव्यवस्था, यन्त्रविद्या तथा गजतुरङ्गविज्ञान प्रतिपादित हैं।

चारों वेदों के उपर्युक्त विवरण में इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई विचार प्रकट नहीं किये गये हैं, कारण वैदिक भाषाविज्ञान की आज की स्थिति में इस प्रकार का तिथि-सम्बन्धी विवेचन केवल ऊह का ही विषय रहता है। वैदिक पञ्चाङ्ग के आधार पर सङ्कलित ज्यौतिषिक सामग्री का अध्ययन कर कोलब्रुक ने यह मत प्रकट किया है कि उक्त पञ्चाङ्ग की रचना ईसा पूर्व १४ वीं शताब्दी में हुई होगी।[1] अन्य विद्वान् इस ऊह से असम्मत हैं। तथापि कहा जा सकता है कि कोलब्रुक के सिद्धान्त में सौ दो सौ वर्ष से अधिक हेर फेर नहीं किया जा सकता। निश्चय ही उक्त पञ्चाङ्ग की रचना ऋग्वेद संहिता की रचना के बाद की गई होगी, और निस्सन्देह संहिता का पूर्वापर रूप अन्तिम सूक्त की रचना के पश्चात् ही निर्धारित किया गया होगा, अत एव इन अवधियों के बीच कहीं भी पञ्चाङ्ग के रचनाकाल का अनुमान किया जा सकता है। अद्यापि वैज्ञानिक रीति से अनुष्ठित अनुसन्धान किसी तरह इन तथ्यों को प्रमाणित करने की क्षमता नहीं रखता, अतः यह समस्त कल्पना केवल ऊहमात्र है। यदि कालान्तर में केवल वैदिक रचनाओं पर ही

१. देखो—'विविध निबन्ध'—भाग १, पृ. १०९, ११०।

गवेषणा सीमित की जाय तो इस ओर कहीं अधिक युक्तियुक्त निर्णय करने के लिये दृढ़ आधार उपलब्ध होने की सम्भावना हो सकती है। 'ऋग्वेद के निर्माता ऋषियों में से कुछ पूर्वतन और कुछ परवर्त्ती थे'[1] — इसे सिद्ध करने के लिये कुछ विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध अवश्य हुए हैं[2], परन्तु 'सब ही ब्राह्मणग्रन्थ एक ही युग की रचना हैं' — इस विवाद ने बहुत कुछ भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। साथ ही साथ 'ब्राह्मणग्रन्थों की रचना से पूर्व मन्त्रसंहिता का निर्माण हो चुका था', तथा 'वैदिक ग्रन्थों के रचनाक्रम में दो ही युग थे—एक संहिता और दूसरा ब्राह्मण' — इस वाद ने भी तर्क को दुरूह बना दिया है। इसके अतिरिक्त 'संहिताकाल की भी दो संस्थाएँ थी जिसमें मन्त्रभाग का सङ्कलन किया गया' — इस धारणा ने भी तिथिक्रम के निश्चय में कठिनाई उपस्थित की है। कारण, दो दो सौ वर्षों के अन्तर पर स्थापित संहिताकाल के युगों की कल्पना के लिये कोई विश्वसनीय प्रमाण अद्यावधि उपलब्ध नहीं; केवल विषयगत साम्य, जो समस्त ब्राह्मणसाहित्य में पाया जाता है, इस तथ्य को सिद्ध नहीं कर सकता कि सब ब्राह्मण एक ही युग की रचनाएँ हैं तथा वे सब संहिताओं से अर्वाचीन हैं। ऋग्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण अवश्य ही ऋग्वेद संहिता से परवर्त्ती कहे जा सकते हैं, उसी तरह सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मण सामसंहिता के बाद के माने जासकते हैं, परन्तु सामसंहिता ऋक्संहिता के बाद की रचना होते हुए भी

---

१. देखो—उदाहरणार्थ, जे. म्यौर द्वारा सङ्कलित 'मूल संस्कृत ग्रन्थ', भाग २ पृ. २०५ ... ।

२. देखो—उदाहरणार्थ, म्यूलर कृत 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' ।

क्योंकर ऐसा माना जासकता है कि ऐतरेय ब्राह्मण सामवेद संहिता के बाद ही बना होगा। हाँ, इतना कहा जासकता है कि हर वेद के ब्राह्मण उस-उस संहिता के बाद बने हैं; परन्तु यह कहना कि सब संहिताएँ एक युग में और सब ब्राह्मणग्रन्थ दूसरे युग में बनाये गये निराधार प्रतीत होता है। खेद का विषय है कि इस प्रकार का ऊह सर्वथा प्रतिषेधात्मक ही हो सकता है, तथापि उससे और अधिक गवेषणा करने तथा सावधानी बरतने के लिये प्रोत्साहन अवश्य मिलता है।

तृतीय अध्याय

अपौरुषेय रचनाएँ

मध्यकालीन भारत में शङ्कर नामक एक प्रसिद्ध और प्रभावशाली विद्वान हुए जो स्वयं भी वेद के प्रतिकूल सारी पूजा आदि प्रथाओं के महाविरोधी थे। उनका लक्ष्य अद्वैत एक कारण-ब्रह्म के प्रति निष्ठा जागृत करने का था। वेदान्त-दर्शन पर लिखे भाष्य में उन्होंने वैदिक साहित्य में उल्लिखित स्वर्ग-निवासी जीवों को उसी परब्रह्म पर लाक्षणिक अध्यारोप बताया है तथा उपनिषद भाष्य में उन देवताओं की असुरों अर्थात् मानव जाति के शत्रु तक से तुलना की है। शङ्कर की सहनशीलता सन्देहात्मक होते हुए भी यदि तथ्य माना जाय कि उन्होंने आजकल के साम्प्रदायिक देवताओं की पूजा अर्चा का कहीं विरोध नहीं किया ; तो भी स्पष्ट है उनकी यह स्वीकृति दुर्बलता और विरोध के कारण नहीं, पर एक शैक्षणिक प्रयोग के रूप में थी जो उनकी विचारधारा को प्रमाणित करने में सहायक हो सके। साधारणतया एक सहस्र वर्ष की अवधि शङ्कराचार्य की इस भूल को सुधारने के लिये पर्याप्त थी। प्रयोग की परीक्षा हुई पर घोर असफलता मिली। हमें विश्वास है और हजार वर्ष प्रयोग करने के पश्चात् कोई ऐसा ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी नहीं मिलेगा जिसके समक्ष इसे भ्रमपूर्ण और अपकारी कह कर खण्डित करने की आवश्यकता प्रतीत होगी।

अब प्रश्न यह है कि वे रचनाएँ कौनसी हैं जिन्हें सनातनी हिन्दू अपने धर्मानुसार दैवीवाक् मानने को विवश किये जाते हैं और ऐसे दूसरे कौन से ग्रन्थ हैं जिन्हें समय की गति के साथ-साथ पुरोहितों ने बलात् श्रद्धेय बना दिया है।

पहिले प्रश्न का प्राचीन रूढियों से बहुत स्पष्ट उत्तर मिलता है। यह विषय किसी श्रद्धालु की स्वेच्छा पर अवलम्बित न था कि वह किसी भी ग्रन्थ को अपौरुषेय घोषित करे या किसी मेधावी पुरुष को प्रमाण मान ले जो कभी भविष्य में यह कहने का दम्भ करे कि उसे दैवी प्रत्यक्ष (अनुभूति) या अन्तः प्रेरणा प्राप्त हुई थी; परन्तु रूढि ने बहुत सावधानी से उन विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय दिया जिन पर परमात्मा का अनुग्रह हुआ और जिन्हें दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ था। कहा जाता है ऐसे व्यक्ति वैदिक-काल के प्राचीन ऋषि अथवा महात्मा हैं ; और दिव्य रचनाएँ हैं ऋग्वेद की ऋचायें, जो अनादि हैं और उन ऋषियों द्वारा प्रत्यक्ष की गई हैं। ऐसी ऋचाओं की संख्या एक हजार अठाईस है। उनमें से कुछ सूक्तों की प्राचीनता के सम्बन्ध में सन्देह की उपेक्षा करने पर भी यह निश्चित है कि हिन्दुओं की दिव्यवाणी उन एक हजार अठाईस सूक्तों की सीमा से बाहर नहीं है, जो भी हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि कट्टर हिन्दू विद्वान् भी ऋग्वेद के कुछ अंश को मौलिक नहीं मानते हैं।

जो भी हो, हिन्दू पुरोहित यह सिद्ध कर चुके हैं कि ये १०२८ सूक्त वास्तव में अपौरुषेय रचनाओं की एक बहुत बड़ी राशि है। उनका कथन है—'ये सूक्त यज्ञिय अनुष्ठानों का उल्लेख करते हैं जो जनसाधारण की समझ में नहीं आ सकते। उनमें अविज्ञात मानुषिक और दैवी घटनाओं का भी सङ्केत

है। अतः मान लेना होगा कि यज्ञिय विधि की उत्पत्ति और अनुष्ठान का विवरण करने वाले ब्राह्मण नामक ग्रन्थ ऋग्वेद के दिव्य सूक्तों के आवश्यक अङ्ग हैं। इनमें उन घटनाओं और उपाख्यानों की व्याख्या है तथा साथ ही साथ दार्शनिक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है। आगे चलकर ब्राह्मण पुरोहित कहते हैं कि ऋग्वेद के अतिरिक्त तीन वेद और हैं—यजुः, साम एवं अथर्व। इनका विषय भी साक्षात् ऋग्वेद से उपात्त होने के कारण ऋक् सूक्तों की भाँति उनकी अपौरुषेयता भी विवादास्पद नहीं है। उन वेदों के ब्राह्मणभाग का अपने वेद की संहिता से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा ऋग्वेद के ब्राह्मणभाग का ऋग्वेद के सूक्तों से। अतः पुरोहित ब्राह्मणों ने निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दू धर्म की प्रबुद्ध रचनाऐं चारों वेदों की संहिता और तत्सम्बद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। वेदान्तियों का मत है इन संहिताओं में सृष्टि की उत्पत्ति, परमात्मा एवं जीवात्मा का स्वरूप-वर्णन आदि गहन रहस्यों के समावेश होने से उन गहन रहस्यों के प्रामाणिक ग्रन्थ उपनिषदों को मन्त्र और ब्राह्मण की दिव्यकोटि से पृथक् नहीं रखा जा सकता।

मानवजाति की सामान्य धार्मिक प्रगति के अध्येता को अपौरुषेय ग्रन्थों की विस्तृत परिधि के सम्बन्ध में कही उक्तियों से आश्चर्य नहीं होगा; क्योंकि पौरोहित्यप्रवृत्ति एवं उसका इतिहास प्रायः सर्वत्र समान ही है। इनेगिने मन्त्रों वाले १०२८ सूक्त दिनोंदिन बढ़नेवाले निरुद्योगी याज्ञिक जन की आजीविका के लिये बहुत कम होते थे। अत एव इन्हीं सूक्तों का अनेक ग्रन्थों में विस्तार कर, जिसे बहुत परिश्रमी छात्र भी कई वर्षों में सीख पाय; और शिक्षा में यह प्रतिबन्ध लगाकर कि छात्र हस्तलिखित

ग्रन्थ से नहीं बल्कि आध्यात्मिक गुरु के मुख से ही सुन कर ग्रहण करें; और उन्हें जटिल विधि का आधार बना, उक्त विधि में पुरोहितों के बड़े दल के द्वारा ही दक्षिणा सम्पादन की पद्धति का आविष्कार कर ब्राह्मण जाति के सदस्य एवं उनके मार्गानुयायियों के हित कितना उज्ज्वल भविष्य निर्माण किया गया है !

सनातनी हिन्दू वेद के ब्राह्मणभाग को, जो केवल विधि-विषयक और आख्यानक है, ऋग्वेदीय सूक्तों के समान अनादि और अपौरुषेय नहीं मानते। यह ऊपर कही परम्परा का ही परिणाम है, क्योंकि उनकी दिव्य उत्पत्ति भारत में दो सहस्र वर्ष से अधिक प्रचलित होते हुए भी एक शतपथ ब्राह्मण को छोड़ अन्यत्र कहीं किसी भी ऋषि का उल्लेख नहीं जिसे दिव्य प्रेरणा हुई हो। रचना के समय जनमत ने शतपथ ब्राह्मण की आर्षता को बहुत कम माना; इतना ही नहीं वरन् इसे भारत के प्राचीन धर्म में फूट का बीज बताया। वास्तव में यदि ऋग्वेद के सूक्तों से इसकी तुलना की जाय तो यह इतना परवर्त्ती है कि पाणिनि के समय में भी इसकी अविद्यमानता प्रमाणित हो जाती है। इस वैय्याकरण ने प्राचीन एवं अर्वाचीन ब्राह्मणों में भेद पहिचानने के कुछ नियम बताये हैं; जिनके विरुद्ध यदि एक भी प्राचीन ब्राह्मण मिल जाय तो यह प्रमाणित हो जायगा कि पाणिनि के समय में इन ग्रन्थों के रचयिता दिव्य प्रेरणा से प्रेरित नहीं माने जाते थे। संस्कृत साहित्य के एक बहुत विद्वान् लेखक ने उन नियमों के प्रमाण पर सिद्ध किया है कि शैलालिन्, कर्मन्दिन आदि प्राचीन ब्राह्मणों के 'इन्नन्त' नाम यह निर्देश करते हैं कि वह ऋषि दिव्य प्रेरणा से उद्बोधित है। परन्तु वास्तव में ऐसा

नहीं है, क्योंकि पाणिनि ने जहाँ दृष्ट या उद्बुद्ध अथवा रचित और प्रचारित या पाठित ग्रन्थों में भेद किया है वहाँ बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वे प्राचीन ग्रन्थ दृष्ट नहीं हैं बल्कि जिन व्यक्तियों के नाम पर वे दिये हुए हैं उन्हीं के द्वारा उनका प्रचार किया गया है।

उपनिषदों की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहना है। भारत में उन्हें वेदान्तियों के द्वारा गौरव मिला है जिन्होंने सुविख्यात भाष्यकार शङ्कराचार्य या कतिपय वेदान्त ग्रन्थों के अनुवादक राममोहन राय का अनुकरण कर उपनिषद् पर आधारित वेदान्त दर्शन को धार्मिक स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। इतर दर्शनानुयायियों ने भी अपने सिद्धान्तों को सत्य प्रमाणित करने के लिये उपनिषदों का सहारा ले इनका महत्त्व बढ़ाया है। उस समय जब पुरोहितों ने नियम बना दिया कि धार्मिक ग्रन्थों के पाठ वे ही दे सकते हैं और शिष्य गुरु मुख से ही शिक्षा पा सकते हैं उन्हें 'श्रुति' (अर्थात् सुने हुए) यह नाम दे दिया गया। इससे यह अर्थ निकलता था कि जो ग्रन्थ शिष्य गुरु के मुख से सुने वे अपौरुषेय ग्रन्थ हैं। ध्यान रहे कि प्रारम्भिक साहित्य में श्रुति शब्द से केवल मन्त्र और ब्राह्मण ही समझे जाते थे। हिन्दू धर्म में काफ़ी समय के पश्चात् उपनिषत्साहित्य के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग मिलता है।

देवकथित यजुः, साम और अथर्व तीनों वेदों के सूक्तभाग का जाल उपरिकथित अन्य ग्रन्थों से स्पष्टतः अधिक निकट कर दिया गया है, फिर भी इस युग में जब यह आनुधिक यूरप और भारत के अनुसन्धान का विषय हो गया हो; जब 'वेदाध्ययन

गुरु की इच्छानुसार स्वरबद्ध हो व यन्त्रचालित कण्ठाग्र किया जाय' ऐसा अधिकार वाक्य हटा दिया गया हो, और जब भारतीय और पाश्चात्य परिश्रम ने सूक्तगत अस्पष्ट शब्दों के साथ ही साथ आभ्यन्तर अर्थ को बताने वाली टीकाओं को छपा कर प्रस्तुत कर दिया हो कोई भी हिन्दू इन तीनों वेदों की अपौरुषेयता के आधार की खोज करने में पीछे न हटेगा।

अथर्ववेद का निराकरण करने में अधिक विरोध न होगा, क्योंकि हिन्दू जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में अथर्ववेद नामक ग्रन्थ की अनुपलब्धि के पर्याप्त प्रमाण हैं। भारत के प्राचीन सनातन धार्मिक ग्रन्थों में केवल तीन वेद—ऋक्, यजुः और साम का ही उल्लेख है। बाद के टीकाकारों ने भी अपने काल में अथर्ववेद के होते हुए भी उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया है; इस वेद की अवहेलना विधिशास्त्रज्ञ मीमांसकों ने भी की है जिनका प्रभाव आहवनीय अग्नि में विहित आहुति देते समय प्रतीत होता है। 'त्रयी विद्या' ही प्रत्येक विद्वान् हिन्दू के मुख पर है 'चतुर्विद्या' नहीं। तो क्या वह 'धनप्राप्ति, भूतप्रेतादि के विनाश एवं शत्रुहानि, प्रेम व क्रीडा में साफल्य, छोटे-छोटे संक्रामक रोगों से छुटकारा, स्वास्थ्यलाभ तथा गंजे के सिर बाल उगना आदि लक्ष्य वाले तान्त्रिक और जादूगरी ग्रन्थ की अपौरुषेयता और शाश्वदस्तित्व के सम्बन्ध में विवाद कर सकता है?' यद्यपि इस वेद का विषय यजुः और साम से भिन्न है फिर भी जिन कारणों से इन तीन वेदों की उत्पत्ति हुई वे कारण सर्वत्र समान ही हैं और जिस कसौटी से हिन्दू एक वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करेगा उसी से वह अन्य दो को भी अपौरुषेय प्रमाणित कर सकेगा।

ऋग्वेद की ऋचाएँ पद्यात्मक हैं; यह सत्य है कि वे धार्मिक और याज्ञिक अनुष्ठानों की ओर बहुधा सङ्केत करती हैं पर उसी सीमा तक जहाँ कवि की धार्मिक और काव्यमय भावना से अथवा वे उसके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं से सम्बद्ध थे। अतः उनमें कई ऋचाएँ ऐसी मिलती हैं जिनका धार्मिक अनुष्ठानों से कोई सरोकार नहीं; उदाहरणार्थ, कहीं प्रकृति का मनोरम वर्णन है, तो कहीं एक जुआरी 'पाप के मार्ग में प्रवृत्त करने वाले व्यसन के लिए पश्चात्ताप करता है' और कहीं एक ऋषि ऋत्विजों के द्वारा सम्पन्न यज्ञ की हँसी उड़ाता है। संक्षेपतः — यदि सूक्तों का समष्टि रूप से अवलोकन किया जाय तो ये सूक्त कवि-बुद्धि की ही अपनी विशुद्ध सृष्टि है। उनसे एक राष्ट्र के जीवन की क्रमिक प्रगति पर प्रकाश पड़ता है। किसी धार्मिक अनुष्ठान के लिये उनकी रचना नहीं की गई थी। इसके विपरीत साम और यजुर्वेद में कुछ भी मौलिक नहीं है। ये भिन्न-भिन्न याज्ञिक कार्यों में स्तोत्ररूप से उपयोग के लिये क्रमबद्ध कर लिखे गये हैं। ऋग्वेद के सूक्त संग्रह में, उनके स्वरूप से ही स्पष्ट है किसी विस्तृत विधि के प्रयोगों के अनुसार कोई व्यवस्था नही मिलती। इसके विपरीत अन्य दो वेद की रचना बिल्कुल प्रयोग के अनुसार है, अतः आदि से अन्त तक वह अस्वाभाविक एवं कृत्रिम है। अतः सोमरस से किये जाने वाले यज्ञों में सामवेदीय साम गाये जाते थे और सोमयाग की विधियों के अनुसार ही उन साम का क्रम भी रखा है। पुनश्च यजुर्वेद के मन्त्रों का क्रम भी विविध यज्ञिय विधियों के अनुसार है जिनमें ऋत्विक् उनका उपांशु उच्चारण करते हैं।

अब इन दो वेदों की अपौरुषेय उत्पत्ति पर इतने दृढ़ जमे हुए विश्वास ने ऋग्वेद की भी पवित्रता पर आवरण डाल दिया है। इस प्रतिष्ठा का कारण अपद्यरूप गद्यात्मकता ही था। क्योंकि कई धार्मिक विद्वानों के मत को देखते यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों ने यह निष्कर्ष निकाला कि ऋग्वेद कितना भी सौन्दर्य की दृष्टि से मनोहारी क्यों न हो, वह उपयोग की दृष्टि से केवल शोभाधायक है, उसकी पूर्ण सफलता तो उसी से उद्गृहीत दोनों वेदों से होती है जब बधिक, सूत्रधारक और चारण आदि की सहायता से १६ ऋत्विजों का समूह सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधि को यज्ञ में व्यावहारिक रूप दें और यागादि अनुष्ठानों को सम्पन्न करें जिनमें कोई-कोई तो शतदिवसी भी हुआ करते थे। यजुर्वेद के पाठ से सम्पन्न यज्ञ क्योंकि सामवेद की विधियों से अधिक प्रभावोत्पादक और विस्तृत होते थे, यजुर्वेद ने धार्मिकता में अपने प्रतिद्वन्द्वी को भी परास्त कर दिया। वेद के भाष्यकार सायण का कहना है कि यजुर्वेद भित्ति के समान है और अन्य दो वेद उसके ऊपर की गई चित्रकारी हैं। फिर भी, जैसा पहिले देखा जा चुका है, इन परवर्त्ती वेदों की अपौरुषेयता इसी सिद्धान्त पर है कि इनके सूक्त ऋग्वेद से लिये हुए हैं और वे उसी के अंश हैं। जहाँ तक सामवेद का सम्बन्ध है यह अनुमान सत्य है क्योंकि वास्तव में जो भी इसकी उपलब्ध संहिता में ऋग्वेद में अप्राप्य कुछ सूक्त हैं, पर यह याद रखना चाहिये कि सामवेद मुख्य वेद का एक संस्करण है और अप्राप्य सूक्त भी किसी अन्य संस्करण में हों या रहे होंगे। परन्तु यजुर्वेद और ऋग्वेद के तुलनात्मक अध्ययन से यह सम्भावना नहीं बनती। यजुर्वेद के यजुः नामक गद्यभाग,

जिनसे यजुर्वेद नाम पड़ा, ऐसे हैं जो किसी भी समय ऋग्वेद के किसी संस्करण का भाग नहीं हो सकते क्योंकि ऋग्वेद की कोई ऋचा अपद्यात्मक नहीं है। यहाँ यह विरोधी प्रश्न उठता है कि वे ऋषि कौन थे जो गद्य भाग के 'द्रष्टा' हैं। यथाप्राप्य इतिहास भी इस विषय पर वैसा ही मौन है जैसा ब्राह्मण के रचयिताओं के विषय में। ब्राह्मणग्रन्थों की अपौरुषेयता अवश्य ही अपेक्षाकृत हीन होगी, क्योंकि प्राचीन काल के ऋषियों द्वारा दृष्ट सूक्त-संग्रह पर वे आधारित हैं। ठीक उसी तरह याज्ञिक अनुष्ठानार्थ यजुर्वेद में जोड़े गद्य वाक्यों में ऋग्वेद के सूक्तों से विद्युत-प्रवाह के समान प्रसारित अपौरुषेयता हीन ही रहेगी। फिर भी तथाकथित अपौरुषेय अंशों और ऋग्वेद के मूल संस्करण में अप्राप्य यजुर्वेद के सूक्तों को अलग कर लेने पर हम सामान्य दृष्टि से ही निर्णय कर सकते हैं कि ऋग्वेद का अपौरुषेय भाग साम और यजुर्वेद में कैसे आया और किन आधार पर ब्राह्मणों ने अन्य दो वेदों को भी अपौरुषेय ग्रन्थ मानने को बाध्य किया।

एक ब्राह्मण अपनी जाति को यही बतायेगा कि साम और यजुर्वेद के सूक्त ऋग्वेद के ही हैं और आवश्यकतानुसार वह यह भी सिद्ध कर देगा कि अधिकांश वे मूलवेद के ही सूक्त हैं। परन्तु हमने मण्डल, अध्याय और सूक्तों से उनकी अनुरूपता देखने की धृष्टता की है; भिन्न-भिन्न वेदों के सूक्तों के स्थान क्रमपूर्वक अंकित किये और इन चिह्नों से हमें यह पता लगा कि वे ऋग्वेद के ही अंश हैं, एक ही सूक्त के स्थान-परिवर्तित मन्त्र हैं अथवा भिन्न सूक्तों से संकलित हैं। यहाँ तक कि अलग-अलग ऋषियों द्वारा निर्मित मन्त्र एकत्र किये हैं, मानों वे एकही मस्तिष्क

की उपज हो। बाद के वेदों में प्राचीन ऋषियों की विचारधारा और भावना पाने की हम आशा करते हैं पर हमें शब्दों की ध्वनि मात्र ही सुनाई दी; इन वेदों में ऋग्वेद के सजीव अंश मात्र पाने की आशा थी पर हमें वास्तव में बिखरे अवशेष ही मिलते हैं। संक्षेपतः, ब्राह्मणवर्ग इन वेदों की ऋग्वेद के साथ एक-रूपता और तत्तुल्य अपौरुषेयता का जो जाल बिछाता है वह वास्तव में एक तुच्छ आभासमात्र है।

विश्व को मन्दबुद्धि बताकर उस पर शासन करने की नीति का उपदेश गुरु से पाये हुए लोयल के शिष्य बहुत समय पहले प्रचलित ब्राह्मणों के इस इन्द्रजाल को सफल देख स्वयं लज्जित हो लें, क्योंकि विश्व में आज तक कोई ऐसा पुरोहितत्व नहीं हुआ जो उपरिकथित उपायों से अपने पुण्यतम शास्त्र को कृत्रिम अनुष्ठानों के मूकसाधक में रूपान्तरित करने और राष्ट्र को अपने मूलमार्ग से अन्यत्र बहा ले जाने में इतना सफल हुआ हो।

ऋग्वेद के सूक्तों को अपौरुषेय ग्रन्थमाला में संगृहीत करने वाले ब्राह्मणों की बौद्धिक चातुरी स्वीकार करते हुए भी यह नहीं भूलना चाहिये कि उन्हें एक आविष्कार से अपने लक्ष्य की सिद्धि में बहुत सहायता मिली। यद्यपि इस आविष्कार को कोई अर्वाचीनकाल का माने तथापि हिन्दू पुरोहित इस पर अपना सर्वाधिकार बता सकते हैं—यह था निर्माता का नाम गुप्त रख रचनाओं को प्रसारित करने का प्रकार। अपनी नैसर्गिक प्रतिभा व इच्छा से प्रेरित रचना करने वाले मनुष्य में व्यक्तिगत अभिमान की भावना स्वाभाविक ही है; और उसी प्रकार राष्ट्र में भी सहज भावना हो जाती है कि वे अपने गुणी व्यक्तियों का विस्मरण न करते हुए अपना व्यक्तित्व बनाये रखें। अतः जब तक यह

सहज भावना साभिप्राय दबाई न जाय यह एक राजनैतिक या साहित्यिक संयोग ही है कि रचयिता का नाम न होने पर भी बहुत से स्मरणीय ग्रन्थ कई युग आगे तक चलते रहें, जैसे कई लेखकों के नाम बिना ग्रन्थ के भी जीवित रह जाते हैं। यह सत्य है कि निबेलुङ्गन और कुट्रून के लेखकों के नाम पता नहीं है, तथा एड्डा नामशेष है पर उसके संग्रहकर्ता के विषय में हम कुछ कह सकते हैं, — ये वैसे अपवाद हैं जो उस नियम को प्रमाणित करते हैं। क्योंकि होमर नामक कोई व्यक्ति असलियत में चाहे न हुआ हो तो भी होमर इस नाम को सामने लाने वाला देश ईलियड और ओडेसी के कवि के रूप में किसी व्यक्ति को अवश्य अपना बनाना चाहता था।

किन्तु जब मनुष्य अपने कर्म का कर्त्ता न हो अथवा किसी शुभ या अशुभ आशय से स्वयं या बलात् प्रेरित हो अपने सीमित रूप से ऊपर उठना चाहता है, वह अपना व्यक्तित्व समाज में लीन कर देता है और 'अज्ञात' हो जाता है। यजुः और ब्राह्मण के रचयिता अज्ञात रहे हों इसे सचमुच एक संयोग मानना वैसा ही असङ्गत होगा जैसा उन काल्पनिक और विस्तृत ग्रन्थों की उत्पत्ति निरभिप्राय, और हिन्दू बुद्धि को सामान्य नियम के अपवाद रूप मानना है। कारण, व्यक्तित्व की साभिमान भावना भारत में सब देशों के समान रही है और सब समय रही है जिसका प्रमाण इसके श्रेष्ठ काव्य, दर्शन, व्याकरण और अन्यान्य ग्रन्थों के रचयिताओं के नाम की लम्बी सूची है। और भी इसका आधार यह है कि हिन्दू अपने प्राचीनतम ऋषियों को जो ऋग्वेद-सूक्तों के 'प्रबुद्ध द्रष्टा' हैं स्मरण करते हैं, चाहे ये व्यक्ति वास्तव में हुए या नहीं हुए, अथवा उनके नाम

पर निर्दिष्ट सूक्त या ग्रन्थ के वे रचयिता थे या नहीं—इसका कोई विचार नहीं है। हिन्दू के लिये वे वास्तविक हैं। एक और बात है—हिन्दू परम्परा में वेद के संग्रहकर्त्ता या क्रम के रचयिता के और ब्राह्मण तथा उपनिषदों के उपदेशकों के नामों का पूरा विवरण मिलता है। मौलिक रचना की अपेक्षा कहीं हीन महत्त्व वाले संग्रह जैसे कार्यों के लिये अपने अपने नाम को चिरस्मरणीय बनाने की निरन्तर स्पर्धा इस तथ्य को सिद्ध करती है कि हिन्दुओं के प्रबुद्ध निर्माताओं के नाम भूल से या असावधानी से नहीं छूटे हैं।

इन वैदिक रचनाओं के ऋषियों का नाम अज्ञात होना आज भी उनकी धार्मिकता के प्रमाण में प्रबल तर्क है। सम्भवतः छः सौ वर्ष पूर्व लिखित एक भाव-प्रधान नाटक में अपने धर्म की जैनधर्म पर श्रेष्ठता मानने को बाध्य करने वाले किसी बौद्धानुयायी को एक जैन भिक्षु इन शब्दों में सम्बोधित करता है :

किन्तु 'यह नियम किसने बनाये ?'

उत्तर है—'सर्वज्ञ धर्मात्मा बुद्ध ने'।

'और तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ कि बुद्ध सर्वज्ञ हैं ?'

बौद्ध कहता है—'क्यों ! हमारे धर्मग्रन्थों में ऐसा ही लिखा है !'

स्पष्ट है —

जिस ब्राह्मण ने इस व्यङ्ग्योक्तिपूर्ण जैनबौद्ध-संवाद को उद्भावित किया है वह निश्चय ही अपने अपौरुषेय ग्रन्थों की प्रामाणिकता के ठोस आधार के सम्बन्ध में सर्वथा विश्वस्त है, कारण उन ग्रन्थों की पारमार्थिकता में हिन्दुओं का विश्वास

ग्रन्थकारों के साद्य पर आधारित नहीं, बल्कि इस बात पर है कि जनमत ने आजतक उन ग्रन्थों के रचयिताओं के विषय में कभी कुछ सुना ही नहीं, अतएव निश्चय ही वे रचनाएँ अपौरुषेय होनी चाहिये।

परवर्त्ती तीन वेदों और उनसे सम्बद्ध कर्मकाण्डपरक एवं दार्शनिक ग्रन्थों के उद्भव का सर्वेक्षण करते हुए हम मानों हिन्दू धर्म के सर्वोपरि शिखर पर पहुँच जाते हैं और वहाँ से वास्तविक दशा के प्रदेश पर अवतरण सुगम होने के कारण किसी निर्देशक की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। एक बार वेदों और ब्राह्मणों के प्रादुर्भाव के कारणस्वरूप भावना से परिचित हो लेने पर, इन अपौरुषेय रचनाओं की पद्धति का बोध हो जाने पर तथा उसके निर्माण के लिए रचयिता का नाम गुप्त रखने की शक्तिशालिनी प्रक्रिया के परिणाम को समझ लेने पर हमें सम्भवतः हमारे पथ में आने वाले मोड़मुड़ाव एवं वीथियों को जानने की भले कुछ उत्सुकता का अनुभव क्यों न हो परन्तु हमारी शेष यात्रा अब नीरस तथा एकरूप ही रहेगी। हाँ, एक विचार अवश्य है जो हमारी गति को स्थान स्थान पर अवरुद्ध कर सकता है।

यह एक सहज प्रणालिका के अनुरूप ही प्रतीत होता है कि यज्ञयागादि का विधान करने वाले वेदों तथा कर्मकाण्ड की प्रयोग-विधि के विवरण करने वाले उपाख्यानों से भरे हुए तथा रहस्यपूर्ण चर्चा करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों की उर्वरा भूमि में अवश्य ही कतिपय मानवकृतियाँ रची गई होंगी जिनके रचयिता का नाम अवश्य ही उल्लिखित एवं सर्वस्वीकृत होगा। वे ग्रन्थ

ऐसे होने चाहिये जो इन अपौरुषेय रचनाओं के समुचित उपयोग के लिए परम आवश्यक हों, ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मण ग्रन्थ, जिन्होंने ऋग्वेद जैसी शोभादायक कृति को व्यावहारिक उपयोगिता का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ बना दिया। ऐसे ग्रन्थ कल्पसूत्र हैं। परन्तु ये ग्रन्थ भी वास्तव में एक ब्राह्मण विद्वान् अपने देश के बान्धवों की जो सेवा कर सकता है उस सेवा की अपार निधि के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर पाये। कारण, कल्पसूत्र केवल उन महान् पारिवारिक एवं सामाजिक संस्कारों और महोत्सवों का विवरण दे पाये हैं जो तात्कालिक पुरोहितवर्ग की व्यक्तिगत आय को समृद्ध बनाने में चाहे समर्थ हों परन्तु वे इतने कम एवं चुने हुए छुटपुट हैं कि वे निरन्तर ठोस निर्वाह के लिये पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। नित्य एवं नैमित्तिक संस्कारों का व्यूह किसी भी आस्तिक व्यक्ति को आजीवन अपने पुरोहित के अधीन बनाये वग़ैर नहीं रह सकता। ये संस्कार गृह्यसूत्रों के अनुसार किए जाते थे, परन्तु समाज चाहे कितना ही धर्मावलम्बी क्यों न हो उसका सारा जीवन गर्भाधान से लगाकर चौड़, उपनयन, विवाह आदि के प्रसङ्ग पर विहित संस्कारों से ही लदा हुआ रह नहीं सकता। अत एव यह आवश्यक ही था कि समस्त प्रक्रिया को धार्मिक रूप से अङ्कित कर सब रूढ़ियों एवं परम्पराओं को अथवा सारे सामाजिक ढाँचे को संस्कारों से अनुप्राणित बना दिया जाय। इस ध्येय को सामने रख, साधारण व्यवहार के लिए समयाचारिक ग्रन्थों की सृष्टि हुई जो आगे चलकर हिन्दुओं के न्याय-निर्णय तथा व्यवहार (क़ानून) के विधायक ग्रन्थों के मूलस्रोत सिद्ध हुए। इन्हीं ग्रन्थों में प्रमुख रचना महाराज मनु-द्वारा प्रणीत स्मृति है। अब तो सब चीज़ हर तरह समूची

बन गई। फल यह हुआ अब सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्य केवल पर्याय ही हो गये। धर्म वास्तव में उभय कर्त्तव्यों का वाचक समझा जाने लगा। सकल सामाजिक संस्थाएँ एवं परम्पराएँ वैदिक उद्गम से उद्भूत समझी जाने लगीं, और मनु आदि स्मृतिकारों के द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र मानव के आचार विचार को नियमित करनेवाले गृह्यसूत्रों के तुल्य महत्त्वशाली माने गए। वैदिक कर्मकाण्ड का सविस्तार प्रयोग बताने वाले श्रौतसूत्र, नित्यनैमित्तिक संस्कारों के विधायक तथा व्यवहार एवं आचार को नियन्त्रित करने वाले समयाचारिक धर्मसूत्रों को ले कल्प-साहित्य साङ्गोपाङ्ग तैयार हो गया। कल्पसूत्रों से विरहित होने पर प्रयोगप्रधान वेदराशि भी सर्वथा अव्यावहारिक ही ठहरता। धर्म एवं समाज, तथा राजनीति को एकानुगत करने वाली शृङ्खला निम्नलिखित तर्कपद्धति के द्वारा हिन्दू विचारकों को समझाई जाती है —

'समाज धर्मानुसार अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता यदि कोई प्रशासक राजा न हो। राजा ही जनता की सुरक्षा करता है। परन्तु राजा भी भूमि से उत्पन्न धन-धान्य के बिना अपने अस्तित्व को क़ायम नहीं रख सकता। भूमि बिना पर्जन्य के अन्नोत्पादन नहीं कर सकती, पर्जन्य की प्राप्ति देवता के अनुग्रह के विना हो नहीं सकती; देवता का अनुग्रह यज्ञयागादि के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। ब्राह्मणपुरोहित के बिना यज्ञानुष्ठान असम्भव है। यों राजा और पुरोहित का एक परिपूर्ण मण्डल बन जाता है जिसकी परिधि में रह कर जनता को उभय शासन से नियन्त्रित रहना आवश्यक है।'

इस विचारधारा के अनुसार दो भिन्न प्रणालिकाएँ प्रवाहित हुईं—एक, वैदिक ग्रन्थमाला जो केवल पुरोहितवर्ग के हित से अनुप्राणित रही और दूसरी, वह ग्रन्थराशि जो ब्राह्मणधर्म की वर्तमान आधारशिला कही जा सकती है जिसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों के सम्मिलित हित का अनुसन्धान किया गया है। दूसरे वर्ग की रचनाएँ 'पुराण' हैं और वे भी वैदिक संहिता तथा ब्राह्मणों की भाँति दैवीप्रेरणा से प्रबोधित रचनाएँ हैं; कारण उनके रचयिता का भी नामनिर्देश कुत्रचित् नहीं है। प्रचलित रूढ़ि के अनुसार इस महान् पुराण-साहित्य का सम्पादक यदि कोई है तो वह है वेदव्यास, जिसने उन महापुरुषों के नाम तिरोहित रखे जिन्हें दिव्यज्ञान द्वारा पुराणों में प्रतिपादित रहस्य का प्रबोध हुआ था। यदि दोनों वर्ग के ग्रन्थों की परस्पर तुलना और भी अधिक की जाय तो वैदिक साहित्य को वह दर्पण दिखाना होगा जो एक हास्यास्पद चित्र को प्रतिबिम्बित कर देगा। पुराणग्रन्थों में वैदिक रचनाओं का अथवा विचारधारा का कोई लक्षण नहीं मिलता — पुराणों की रचना तो भारतीय देवसमुदाय के गौरवगान के लिए प्रस्तुत हुई जिसमें हिन्दुओं की त्रिमूर्ति— ब्रह्मा-विष्णु-महेश का सविशेष महत्त्व अङ्कित किया गया है। पुराणों में शायद ही कोई उपाख्यान ऐसा हो जिसका किसी प्रकार दूरतम सम्बन्ध भी वैदिक आख्यान के साथ प्रमाणित किया जा सके। पौराणिक कल्प कोई भी ऐसा नहीं है जो ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों में विहित विधानों के सामने फीका, निर्जीव और किसी तरह मानसिक उन्नति को न देने वाला सिद्ध न होता हो। कुछ ही पुराणों को छोड़कर अधिकांश रचनाएँ नीरस, अपरिष्कृत एवं अतिविस्तृत, और जहाँ तहाँ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध भी हैं।

सामान्यतः पुराणों में जगत्सृष्टि का वर्णन है जो पूर्वतन इतिहास ग्रन्थों में तथा दर्शनों में प्रतिपादित सृष्टिवाद पर आधारित वर्तमान युग में प्रचलित आख्यायिकाओं का समूह है। उनमें देवोत्पत्ति की कल्पना है और महाभारत में वर्णित कथाओं का विस्तार है। जिस-जिस देवता विशेष के नाम पर जो-जो पुराण रचा हुआ है उसमें उस-उस देवता को प्राधान्य दिया गया है। पुराणों में प्राचीन ऋषियों तथा राजवंशों का वर्णन भी पाया जाता है। मनु एवं याज्ञवल्क्य का अनुसरण करते हुए पुराणों में कतिपय धर्म एवं नीति के वचन भी हैं। उनमें प्राचीन परम्परा से चली हुई कई विधियों के विवरण देने का भी प्रयास किया गया है, और एक दूसरे की अपेक्षा अधिकाधिक महत्त्व-शाली प्रयोगों का अनर्थक विस्तार के साथ वर्णन भी पाया जाता है। इतना ही नहीं वरन् पुराणों में आगामी युग के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी दी हुई है।

पुराणों के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त परिचय यह स्पष्ट कर देता है कि ये ग्रन्थ वे हैं जो समस्त ज्ञान को एकत्र उपस्थित करने के हृदय से रचे गये हैं। धार्मिक प्रमाणता के गौरव के कारण, कोई आश्चर्य नहीं यह भी आवश्यक समझा गया हो कि भौगोलिक वर्णन के साथ-साथ तीर्थस्थानों का भी उल्लेख किया जाय जहाँ मुक्ति पाने के लिये सविशेष अवसर प्राप्त हो। साथ ही अंगदतन्त्र, खगोल, धनुर्विद्या, साहित्य-शास्त्र, छन्द तथा व्याकरण के सिद्धान्तों को इन ग्रन्थों में सङ्कलित कर रखा है। परन्तु संस्कृत साहित्य के प्राङ्गण में जो निम्न स्थान पुराणग्रन्थों को प्राप्त है वह सबसे अधिक वहीं अभिव्यक्त होता है जहाँ मानव विज्ञान की उन शाखाओं के

साथ भी चपलता की गई है जिसके सम्बन्ध में कोई भी पाठक पुराणों के रचयिताओं की सर्वज्ञता तथा दिव्य ज्ञान को सहज ही कसौटी पर चढ़ा सकता है।

किसी प्रकार के पूर्वग्रह को लेकर न चलनेवाले निष्पक्ष अध्येता को उपलब्ध पुराणों की आधुनिकता के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह न होगा। इतना ही नहीं बल्कि हर कट्टर हिन्दू को भी उनकी प्राचीनता घोषित करने के प्रयास में साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा व्याकरणसम्बन्धी समस्त साक्ष्य की ओर नयन निमीलित ही कर लेने होंगे। उसके इस अन्धविश्वास को उन्मूलित करने के लिये उपलब्ध अनेक प्रमाणों में से केवल एक ही कुतूहलवश हम यहाँ देते हैं —

पुराण अर्थात् पुरातन कहे जानेवाले ये ग्रन्थ किसी पुराकाल में रहे होंगे, तथा इस नाम से ख्यात ग्रन्थराशि में विवेचित कुछ अंश का संग्रह इनमें किया हो असम्भव प्रतीत नहीं होता; कारण. 'पुराण' यह पद मनुसंहिता जैसे प्राचीन धर्मग्रन्थ में ग्रन्थविशेष का वाचक बताया गया है, जो भी मनुसंहिता स्वयं वैदिक रचनाओं की तुलना में निश्चित अर्वाचीन है। जो भी हो 'पुराण किसे कहना चाहिये' इसे बताने वाली परिभाषा ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्वतन नहीं हो सकती। कोषकार अमरसिंह ने 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' यह वाक्य दिया है। अमरकोष के टीकाकारों ने इस परिभाषा का विवरण दिया है जिनमें सर्वाधिक प्राचीन टीकाकार भी आज से ४०० वर्ष से अधिक पूर्ववर्त्ती नहीं पाया जाता। तदनुसार पुराण के पञ्चलक्षण निम्नलिखित हैं — 'आदि सृष्टि का वर्णन (सर्ग), दूसरी सृष्टि का वर्णन (प्रतिसर्ग), जगत् के प्रलय एवं पुनर्निर्माण के क्रम

का वर्णन, देवता तथा ऋषियों का वंशानुवर्णन, मन्वन्तरवर्णन तथा इतिहास अर्थात् उन राजाओं की वंशावली जिनका जन्म सूर्य अथवा चन्द्र से कल्पित है।'

इस लक्षण का वर्तमान पुराणग्रन्थों में समन्वय करने पर संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्, विष्णुपुराण के अनूदिता तथा पौराणिक साहित्य के गम्भीर अध्यवसायी श्रीयुत विल्सन महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'एक भी पुराण उपर्युक्त लक्षणों से पूर्णतः समन्वित नहीं है, कतिपय पुराणों पर तो यह लक्षण घटित ही नहीं होता, कुछ ही पुराण ऐसे हैं जिनपर अंशतः यह लक्षण बैठाया जाता है'।[1] पुराणों का मौलिक स्वरूप चाहे जो रहा हो और 'वर्तमान पुराण ग्रन्थों में इसी नाम से ख्यात प्राचीन रचनाओं से अंश सङ्कलित हैं' इस मान्यता का चाहे जो भी आशय हो, इतना अवश्य स्पष्ट है पुराणों के उपलब्ध स्वरूप के आधार पर उनका रचनाकाल अनेक शताब्दी पूर्व का युग नहीं गिना जा सकता।

पुरोहितवर्ग के कौशल एवं स्वगत अज्ञान के वशीभूत हो जब एक राष्ट्र इतना भ्रान्त हो जाय कि वह पुराण जैसी रचनाओं को भी दिव्यज्ञान से प्रबोधित मानने लगे तो यही कहना होगा

---

१. कई वर्ष पूव भारतवर्ष में पुराणों के कुछ रोचक अंशों का अंग्रेज़ी अनुवाद किया गया था जिसका निर्देशन प्रसिद्ध विद्वान् श्री विल्सन ने स्वयं किया था। यही एक ऐसा हस्तलिखित सङ्ग्रह है जिसके द्वारा संस्कृत भाषा से अपरिचित अंग्रेज़ी अध्येता पुराणों के मुख्य मुख्य विषयों से परिचित हो सकता है। यह सङ्ग्रह इस समय श्री विल्सन की विधवा पत्नी की अनुमति पाकर शासन की उदारता से लन्दन स्थित भारत कार्यालय के ग्रन्थालय में सुरक्षित है।

कि अवश्य वह राष्ट्र अपने भाग्यपथ के मोड़ पर पहुँच चुका है। हिन्दूधर्म यहाँ इसी स्थिति पर पहुँच गया है और उत्सुकतापूर्वक हमें यह देखना है वह अब किस ओर अपना क़दम बढ़ाता है। यह सच है कई शताब्दियों से वह स्थिर है, परन्तु वर्तमान सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की शक्तियाँ इस गतिरोध को ज्यों का त्यों न रहने देंगी। आधुनिक पुराणों को जिन दिनों हिन्दू जनता ने अपने धर्म का आधार माना है वे दिन अब न रहे, धार्मिक बन्धनों की शृङ्खलाएँ शिथिल हो टूटने लगी हैं और अनेक सम्प्रदायों का वह व्यूह आविर्भूत हो गया है जो न केवल हिन्दुत्व के लिये ही अपि तु सारे समाज के लिये भयावह है। ऐसे-ऐसे सिद्धान्त प्रचलित हो गये हैं जो मानव मस्तिष्क को अपमानित करते हैं और इस प्रकार के व्यवहार एवं प्रवृत्तियाँ चल पड़ी हैं जो किसी भी सच्चे हिन्दू को लज्जा एवं सम्भ्रम से आक्रान्त किये विना नहीं रह सकतीं। इन बातों का सविस्तर विवरण देना अनावश्यक होगा। न यही अपेक्षित है कि उदाहरणार्थ हम यहाँ तन्त्र साहित्य के गुह्यरूप का अन्वेषण ही करें, और न हमारे लिये हिन्दूजाति के विवेकी वर्ग को इस तथ्य की यथार्थता बताने का प्रयास करना ही उचित है; कारण कलकत्ता, बनारस और बम्बई से अनेक ऐसे उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं तथा मासिकपत्र-पत्रिकाओं द्वारा वे प्रबोधपूर्ण विचार पुरस्कृत किये जा रहे हैं जो यह पूर्णतः प्रमाणित करते हैं कि किसी भी परिष्कृत यूरोपीय मस्तिष्क के समकक्ष आज के भारतीय मस्तिष्क के सामने राष्ट्र की वर्तमान स्थिति तथा अपने सुदूर अतीत के बीच गहरी खाई को दिखाने का यत्न करना अनावश्यक है।

तथापि हमारी धारणा है कि शिक्षित वर्ग का समस्त प्रयास भी हिन्दूधर्म के भविष्य को गर्त्त में गिराने वाली विपद् से तब तक न बचा सकेगा जब तक वह इस महाव्याधि के मूल को साहस के साथ जकड़कर उखाड़ न फेंकेगा। हिन्दूधर्म की अवनति के कारण अन्धविश्वास पर प्रचलित, अवनति की ओर जानेवाले अन्य धर्मों की स्थिति से किसी तरह भिन्न नहीं हैं। यूरप में धार्मिक भ्रष्टता का अवरोध उसी समय होने लगा जब मुद्रणकला ने राष्ट्रिय धर्मग्रन्थ को प्रकाशित कर घर-घर जनता के हाथों में रख दिया। यही एकमात्र उपाय है जो भारत में धार्मिक भ्रष्टाचार को रोक सकेगा। जनसामान्य को उन धर्म ग्रन्थों के ज्ञानभाण्डार में प्रवेश दिया जाना चाहिये जिनके नाम अवश्य उन्हें ओष्ठगत हैं, परन्तु जिनका अध्ययन समाज के अत्यन्त सङ्कीर्ण ब्राह्मणवर्ग का एकाधिकार बना हुआ है। साथ ही साथ जनसामान्य को उस महत्त्वपूर्ण साहित्य के कक्ष में प्रवेश प्राप्त हो जिसने हर युग में हिन्दू जनता के सम्मुख इस तथ्य को रखने की चेष्टा की है कि 'हिन्दुओं का वास्तविक धर्म न वेद के ब्राह्मणभाग पर और न पुराणों पर परन्तु ऋग्वेद के सूक्तों पर आधारित है'।

प्राचीन युग के कूटनीतिज्ञों द्वारा नियमित जातिपाँति के बन्धनों की परवाह न कर यदि आज के हिन्दू मनीषी उक्त महाग्रन्थ एवं तत्सम्बद्ध साहित्य को जनसामान्य तक पहुँचा देने की अभिलाषा एवं उत्साह रखें तो हमें कोई आशङ्का न रहती कि हिन्दूधर्म के अपचीयमान जीवन में नई स्फूर्त्ति का सञ्चार हो उसका पुनरुद्धार अवश्य होगा। इस प्रयास के परिणाम का पूर्वालोक हमें इनके पूर्वजों द्वारा विहित यत्नों को देख अवश्य प्राप्त

होता है; परन्तु पूर्वजों के वे प्रयत्न प्रायः विफल हुए। कारण, हिन्दू समाज को जकड़ी हुई रूढियों के कृत्रिम बन्धनों को तोड़ने का पर्याप्त साहस उनमें न था। हम यहाँ सङ्क्षेप में उनके उस दृष्टिकोण को आपके सम्मुख रखते हैं जिससे यह पता चलेगा कि प्राचीन वैदिक संहिता का अध्ययन किस तरह होता था।

हम ऊपर कह चुके हैं कि ऋग्वेद सूक्तों में सर्वथा काव्यमय रचना है। आचार्य विल्सन के अनुसार 'सूक्तों में प्रार्थना एवं स्तुति दोनों का ही सुन्दर योग है। आराध्य देवता की शक्ति, भव्यता, उदारता एवं साधुवृत्ति तथा व्यक्तिगत सुन्दरता का बहुत ही उदात्त एवं प्रशस्त वर्णन है। उस देवता के पूर्वपराक्रम एवं अतुल अनुग्रह का भी गौरवपूर्ण विवरण है। यजमान द्वारा की हुई स्तुति के फलस्वरूप तथा श्रद्धा के साथ समर्पित उपहार और उसके सम्मानार्थ विहित याग की स्वीकृति के रूप में वह अपने लिये अभीप्सित वरप्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है, कभी-कभी सूक्त के रचयिता की भी मङ्गलकामना करता है। प्रार्थित वर प्रायः व्यक्तिगत ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के रूप में हुआ करता था जिसमें धनधान्य, दीर्घायु, सन्तति, तथा पशुधन की याचना प्रमुख रही है। पारलौकिक सुख अथवा अमरत्व की अभिलाषा की ओर कहीं कहीं संकेत मिलता है। इस विषय में साक्षात् याचना क्वचित् ही पाई जाती है; जो भी हो, देवताओं का अमरत्व सर्वसम्मत है।'

ऋग्वेद के द्वितीय अष्टक से उद्धृत निम्नलिखित मन्त्र सूक्तों के अभिप्राय को स्फुट करने में सहायक होंगे। इनमें से प्रथम चार मन्त्र पूषन् को और आगे के मन्त्र द्यावापृथिवी को सम्बोधित कर कहे हैं।

(१) बहुपूजित पूषा की शक्ति की महत्ता सर्वत्र स्तुत है, कोई भी उसकी स्तुति से पीछे नहीं हटता, उसकी स्तुति किसे भी अरोचक नहीं। सुख-शान्ति की कामना से मैं उसकी पूजा करता हूँ। उनका आश्रय सदा सुलभ है। वह आनन्ददायक है और भक्तों की आराधना से सन्तुष्ट हो उनके अन्तःकरण में व्याप्त हो जाता है। वह देवस्वरूप होते हुए भी यागात्मक है।

(२) हे पूषन्! मैं स्तुति द्वारा आपकी आराधना करता हूँ ताकि तुम रण की ओर वेग से दौड़ते हुए वाजि की तरह मेरे यज्ञ में तुरन्त उपस्थित होओ, तुम ऊँट की तरह मुझे युद्ध में विजय प्रदान करो। इसी अभिलाषा से मर्त्यलोक का वासी मैं तुम्हारी सहायता माँगता हूँ। तुम सुख के प्रदाता हो, आपका अनुग्रह मेरी प्रार्थना को सफल करे और मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो तथा युद्ध में विजय मिले।

(३) हे पूषन्! आपके अनुग्रह से आपकी पूजा में संलग्न मानव धनधान्य की समृद्धि पाते हैं, आपकी आराधना के द्वारा आपका संरक्षण प्राप्त कर मोदमङ्गल का अनुभव करते हैं। इस समय प्रस्तुत याग के द्वारा हम असीम सम्पत्ति के लिए अभ्यर्थना करते हैं। आप प्रसन्न होकर हमारी स्तुति को स्वीकार करें तथा सर्वदा अनुग्रह करते रहें। आप सदा हमारे नायक बने रहें।

(४) आप हमारे पर कभी रोष न करें तथा सदा उदार भाव से हमारे सहायक हो निकट रहें। हमारी इस सेवा को सफल बनायें। जो अन्य के लिए प्रार्थना करते हैं उनपर आप सदा कृपालु रहें। शत्रु के विनाशक आप हमारी भक्तिपूर्ण

स्तुतिओं से प्रसन्न हो सदा रक्षा करते हैं। हे बलि के गृहीता पूषन्! मैं कभी भी आपके ध्यान से विरत नहीं होता, मैं आपकी कृपा को कभी तुच्छ नहीं समझता।

(१) देवतात्मा द्यौः और पृथिवी! आप दोनों समस्त संसार को सुख देने वाले हो, आप सत्य को प्रोत्साहित करते हो, आप पर्जन्य को धारण करने वाले हो, आप में प्रजनन शक्ति है, कार्य करने की स्फूर्त्ति है। आप दोनों के मध्य ही परम पवित्र सविता देवता सञ्चार कर अपने धर्म का निर्वाह करता है।

(२) विभु, विशाल, निराधार, जगत् के मातापिता तुम दोनों ही संसार के पालक हो। शरीरधारियों के कल्याण में संलग्न द्यौः और पृथिवी सदा विद्यमान हैं। परम पिता ने अखिल विश्व को मूर्तरूप प्रदान किया है।

(३) इसी फलदात्री दम्पति के परम शुभ्र तथा सुदृढ पुत्र सूर्य ही अपने तेज से जगत् को पुनीत करता है, वही गौरूपधरा ऊर्वी को उर्वरा बनाता है, वही बलीवर्दरूप द्यौः को सबल बनाता है तथा नित्य आकाशरूपी शुभ्र दुग्ध को दुहता है।

(४) वही देवाधिदेव है, पवित्रात्माओं में सर्वाधिक पुनीत है। उसीने सकलाह्लादक आकाश एवं पृथिवी की सृष्टि की है, उसीने उनकी इयत्ता का परिमाण लिया है। यज्ञ के लिये ही उसने इन्हें अविनाशी स्तम्भों पर स्थिर किया है।

(५) हमारे द्वारा समभ्यर्चित हे द्यावापृथिवी! आप हमें प्रभूत धान्य दें, अतुल शक्ति प्रदान करें ताकि हम सशक्त हो प्रजावृद्धि करें। आप हमें अतुल शक्ति एवं ओज प्रदान करें।

भौतिक देवताओं की स्तुति अथवा अर्चा से रहित कतिपय सूक्तों को छोड़कर ऋग्वेद की शेष रचनाओं का विषय एवं वर्णनक्रम ठीक ऐसा ही है जैसा इस उद्धृत सन्दर्भ में पाया जाता है। अब प्रश्न यह उठता है 'कहीं इन सूक्तों में विधिविधान अथवा प्रयोगकल्प भी दिया है'? उत्तर केवल अभावात्मक ही है। सूक्तों में कतिपय विधियों का उल्लेख अवश्य है— कहीं सूक्ष्मरूप से, तो कहीं विशद रूप से; परन्तु यह उल्लेख सूक्तकारों के व्यवहार में प्रचलित विधियों का संग्रह अथवा नामनिर्देश मात्र है। इतना अवश्य है 'हमें यह कहा जाता है कि उन ऋषियों का आचरण ही हमारे लिये नियामक विधि है'; तत्रापि यह कहना होगा कि यह ऊह केवल कल्पित एवं मनोग्रह से अभिभूत है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार की धारणा का कठोर विरोध प्राचीन एवं मध्ययुगीन विद्वानों के ग्रन्थों में तथा सामाजिक प्रयत्नों में स्पष्ट रूप से प्रकट है। ऐसे मनीषी वे हैं जो वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले हैं और उनमें प्रमुख शङ्कराचार्य एक दिव्यावतार महोपदेशक माने जाते हैं। कोई हिन्दू ऐसा नहीं जो इन अवतारी आचार्यों के सच्चे हिन्दू होने में आशङ्का करता हो ; तथापि इनकी रचनाएँ मुक्तकण्ठ से उन अनुष्ठानों का खण्डन करती हैं जिन्हें शाश्वत सुख का साधन बताया गया था। यों वे पारम्परिक रूप से उस समस्त 'यज्ञिय' वेदराशि के प्रामाण्य एवं आप्तवाक्यता को निरस्त कर देते हैं जिनका एकमात्र लक्ष्य यागादि विधि को प्रवर्त्तित कर ब्राह्मणों की विधिरूपता तथा उनपर आधारित भजनपूजन की प्रक्रिया को प्रतिष्ठित करना था। इसी तरह यज्ञानुष्ठान से सम्बद्ध

वेदराशि के साथ-साथ तन्मूलक ब्राह्मणग्रन्थों की और उनमें प्रतिपादित विधिविधान की मान्यता भी खण्डित हो जाती है।

महत्त्व का दूसरा प्रश्न यह है 'क्या ऋग्वेद के सूक्त अपौरुषेय हैं जो ऋषियों को दिव्यज्ञान के बल पर उपलब्ध हुए हैं' ? इस प्रश्न का उत्तर किसी वैदेशिक के लिये एक जटिल विषय है परन्तु हिन्दू दृष्टिकोण से बिलकुल सरल है। एक यूरपवासी अनुसन्धाता के लिये ऋग्वेद के सूक्त हिन्दुओं की प्राचीन परम्परा के विविध युगों की कृतियों का संकलन है — कतिपय सूक्तों में उसे सरल विधियाँ दीख पड़ती है तो कहीं कुछ जटिल; कुछ रचनाओं में पशुपालों की शैली झलकती है, आदिवासियों के सहज जीवन की झाँकी मिलती है तो कहीं विविध कलाओं में निष्णात और समुद्रयात्रा करनेवाले व्यवहार-पटु व्यापारीवर्ग का भी परिचय प्राप्त होता है। सूक्तों में प्रतिपादित धार्मिक विचारों की खोज करने पर उसे कहीं भौतिक शक्तियों की उपासना तो कहीं अखिल जगत् के स्रष्टा परमेश्वर की भावना प्रतीत होती है। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि एक वैदेशिक पाठक को अन्यान्य धर्म की भाँति यहाँ भी प्रारम्भिक दशा में भौतिक पदार्थों की उपासना से लगाकर क्रमशः जगदुत्पत्ति के रहस्य को समझने की चेष्टा तथा सारी सृष्टि के कारण को ढूँढ़ निकालने का प्रयास दिखाई देगा। प्रस्तुत विकास की चरम सीमा निम्नलिखित सूक्त में मिलती है जिसकी ओर कोलब्रुक जैसे ओजस्वी संस्कृतज्ञ ने बहुत समय पहिले ध्यान आकृष्ट किया है। इस सूक्त का प्रभाव यूरप की कई रचनाओं में दीख पड़ता है। वह सूक्त इस प्रकार है —

"तब वहाँ न कोई सत् था, न था असत्; न कोई लोक था-

न आकाश; न उसके ऊपर ही कुछ था, न कोई कहीं सुख की भावना ही थी, न जल था—गहरा या भयावह; मृत्यु भी न थी, न थी अमरता, न दिन और रात जैसी कोई वस्तु भी थी। एक वही था जिसके साथ केवल स्वधा थी जो उसी में रहकर उसी से अनुप्राणित थी। उसके सिवा और कुछ न था जो आज दीख पड़ रहा है। अन्धकार ही अन्धकार था, कारण यह विश्व तमसावृत था और परस्पर मिश्रित तरल पदार्थों की भाँति अपरिच्छेद्य था। परन्तु वह पिण्ड जो आवृत था क्रमशः प्रणिधान के द्वारा स्फुटित हुआ। सर्वप्रथम उसके हृदय में इच्छा हुई और वही सृष्टि-बीज के रूप में परिणत हुई। मनीषी तद्विषयक विवेक के बल ही उसे सद्रूप का मूल कारण असत् रूप मानते हैं। क्या उस स्रष्टा की देदीप्यमान ज्योति मध्य में, ऊपर अथवा नीचे प्रकट हुई? वही मूल बीज एकदम चेतनरूप हो गया और उसी स्वधा का प्रकृति रूप में आविर्भाव हुआ। चेतन के द्वारा परिपोषित प्रकृति गौण रही और वह अन्तर्यामी चेतन प्रधान बना। कौन जाने और इस दुनिया में कौन कह सकता है जगत् की सृष्टि कहाँ से और क्यों हुई? देवताओं की उत्पत्ति तो सृष्टि के पश्चात् हुई, तब कौन बता सकता है वह कहाँ से हुई और भिन्न रूप जगत् क्यों कर हुआ और यह स्वयं अपने ही आधार पर स्थित था या नहीं? यह सब बात तो जगन्नियन्ता परमेश्वर ही जाने, उसके सिवा और किसी को भी इसका बोध नहीं है।"

हमरी मान्यता के साथ कट्टर हिन्दू मस्तिष्क एकमत नहीं हो सकता। कोई भी कट्टर हिन्दू सूक्तों की क्रमिक रचना को स्वीकार नहीं करता। उसका तो यही अटल विश्वास है

ऋग्वेद सारा ही एक ही समय आविर्भूत हुआ और उसका रचयिता कोई मानव नहीं, वह तो अपौरुषेय शब्दराशि है। इस धारणा से प्रेरित हो उपनिषद् और उनसे भी अधिक स्पष्टरूप से वेदान्तदर्शन के प्रणेता भौतिक देववाद तथा परब्रह्मवाद में विरोध स्थापित करने की कल्पना भी न कर सके। उन्होंने भौतिक देवताओं को उसी परब्रह्म का मूर्त्तरूप स्वीकार कर उन्हें जगत् के मूलकारण का प्रतीक कहकर इस समस्या का समाधान किया है। वेदान्तियों तथा उपनिषदों से पूर्व भी यह दृष्टि-बिन्दु प्राचीन निरुक्तकार यास्क के वचनों में पाया जाता है। यास्क ने कहा है — 'देवता तीन हैं — अग्नि जो पृथ्वी पर हैं, वायु और इन्द्र जो द्यौः और पृथ्वी के मध्यवर्त्ती लोक में रहते हैं, और सूर्य जो द्युवासी है। देवताओं में एक ही आत्मा है, परन्तु गुणभेद है। गुणों में भेद के कारण ही उनकी स्तुति भिन्न भिन्न प्रकार से की जाती है — वस्तुतः समस्त देवता एक ही परम आत्मा के अंशमात्र हैं।'

उपनिषत् तथा हिन्दू मान्यताओं का कट्टर पक्षपाती वेदान्त यह मानने को कभी तैयार नहीं कि वह हिन्दूधर्म जिसका प्रतिनिधित्व ऋग्वेद करता है किसी समय भी बहुदेववादी रहा हो। वह तो सदा यह कहता रहा है 'ऋषियों ने सर्वथा एकेश्वरवाद का पूर्ण सिद्धान्त स्थिर करने की चेष्टा की है'। यह वाद कहाँ तक सङ्गत है यह प्रश्न हमारे प्रस्तुत विवेचन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता। कारण, यह तो निश्चित है वैदिक सूक्तों का तात्पर्य एकेश्वर में श्रद्धा को जागृत करने से है और स्थान स्थान पर वेदान्तियों ने अनेक वाक्यों को ले लेकर तद्विरोधी शङ्काओं के उन्मूलन का प्रयास किया है।

जो इस समय है उससे वह बिल्कुल भिन्न होनी चाहिये। वेदाध्ययन बिना समझे बूझे केवल मन्त्रपाठ से, अथवा शिष्य की तरह स्वयं भी अर्थ से अनभिज्ञ गुरु के स्वर में स्वर मिलाने से सम्पन्न नहीं होता; व्याकरण का अध्ययन कतिपय व्याकरण-सम्बन्धी नियमों को केवल कण्ठस्थ कर लेने से सफल नहीं होता जब तक उसे भाषागत नियमों का उपपत्तिपूर्वक बोध न हो और जब तक उसके मन से यह धारणा दूर न कर दी जाय कि एक ही दर्शन की एक या दो पुस्तक पढ़ लेने से वह सारे दर्शनों अथवा विज्ञान का पण्डित हो सकता है और इतर साहित्य के साथ परस्पर सम्बन्ध को जानने की उपेक्षा सहज कर सकता है। इस प्रकार की शिक्षाप्रणाली तथा एकाङ्गी अध्ययन की पद्धति मस्तिष्क का विकास नहीं कर सकती। पठन-पाठन की यह परिपाटी कितनी दूषित है अपने विकल परिणामों से ही प्रमाणित है। आज के युग में भारत को वैसी शिक्षा की आवश्यकता है जो अपनी विशेष—धार्मिक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा राजनैतिक—आवश्यकताओं के अनुरूप क्यों न हो परन्तु उसकी परिपाटी वही होनी चाहिये जिसने यूरपवासी के मस्तिष्क को स्फूर्त्तिसम्पन्न एवं सर्वाङ्गीण विकास से प्रफुल्लित बनाया। भारतीय शिक्षापद्धति वह होनी चाहिये जो उच्चावचता तथा जातिभेद के नियमों से मुक्त हो और जो चरित्रगठन तथा विचारगत स्वतन्त्रता को प्रसूत करने वाली हो।

चतुर्थ अध्याय

भारतीय विचारपरम्परा का विकास

हिन्दुत्व के विकास में हम तीन महान् युगों की कल्पना कर सकते हैं। सङ्क्षेपतः वे क्रमशः वैदिक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक युग कहे जा सकते हैं। प्रथम युग के स्वरूप का परिचय हमें वेद कहे जानेवाले धार्मिक ग्रन्थों से मिलता है अतः उस युग को वैदिक युग कहना उचित होगा। दूसरे युग के स्वरूप का परिचय आदिकाव्य रामायण तथा वीरकाव्य महाभारत से प्राप्त हो रहा है अत एव उस युग को ऐतिहासिक युग कह सकते हैं। तीसरे युग के सम्बन्ध में हमें बोध पुराण एवं तन्त्रों के नाम से कथित कल्पित कथाग्रन्थों से होता है, अतः हम उस युग को पौराणिक युग की संज्ञा देते हैं। इनमें से सर्वप्रथम युग के सम्बन्ध में तिथिक्रम को निर्धारित करने के प्रयास में हमारे पाठक को सदा सतर्क रहना चाहिये। यह घोषणा कर देना हमें आवश्यक प्रतीत होता है। कारण, वैदिक युग के सम्बन्ध में लेखक प्रायः हिन्दुओं की प्राचीनता के विविध रूपों का प्रारम्भ ईसा से सहस्रों वर्ष पहिले हुआ है ऐसा बताते हैं, कुछ सतर्क लेखक वैदिक काल की रचनाओं को ईसा से १२००,१०००,८०० अथवा ६०० वर्ष पूर्व तक बतलाते हैं। तथ्य तो यह है कि हिन्दू साहित्य प्रायशः ऐसा है जिसकी निश्चित तिथि का कोई पता नहीं। इसका कारण सम्भवतः हिन्दू मनोवृत्ति की विचित्रता है

अथवा भारत के प्राचीन ऐतिह्य का सहसा लोप है; परन्तु वास्तविक स्थिति तो यह है कि संस्कृत-भाषा-विज्ञान की वर्तमान प्रगति हमें कालक्रम के निर्धारण में किसी तरह भी विशुद्ध अनुमान के लिए निर्भर अवकाश नहीं प्रदान करती। तथापि जहाँ तक भाषाविज्ञान हमारे सम्मुख तर्क करने की सामग्री उपस्थित करता है हम यह कह सकते हैं कि वैदिक युग की सबसे परवर्त्ती रचनाएँ भी ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से कहीं अर्वाचीन नहीं कही जा सकती हैं। इसी तरह की अनिश्चितता रामायण-महाभारत के रचनाकाल के सम्बन्ध में भी पाई जाती है यद्यपि इस कल्पना के लिये पर्याप्त सामग्री है कि इस मध्ययुग की निम्नतर सीमा ईसवी सन् का प्रारम्भ कही जाय। पौराणिक युग के सम्बन्ध में सबही विद्वानों का ऐकमत्य है जो उस युग को हमारे मध्ययुगीन इतिहास के समानान्तर मानते हैं।

वेदों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद ही सम्भवतः विश्व का भी प्राचीनतम ग्रन्थ कहा जा सकता है; और यदि हिन्दू सभ्यता का प्रारम्भ ऋग्वेद के साथ माना जाय तो ऋग्वेद के सूक्तों में प्रतिबिम्बित आचार-विचार न केवल हिन्दुओं की मौलिक सभ्यता के ही अपितु समग्र मानवजाति की सभ्यता के आदिम स्वरूप पर भव्य प्रकाश डालने के लिये समर्थ कहा जा सकता है। तत्रापि यह दुर्भाग्य तो अवश्य ही सम्मुख है कि ऋग्वेद का ही निश्चित काल अविज्ञात होने से उसपर आधारित सभ्यता का काल भी अनिश्चितता के कुहर में उतना ही तिरोहित रह जाता है। सूक्तों में वर्णित हिन्दू कदापि मानवसमाज की प्रारम्भिक अवस्था का प्रतीक नहीं कहा जा सकता — उसका स्थान तो निश्चय ही उस सभ्य समाज में सुरक्षित है जिसमें जनता विविध

कलाओं में निष्णात तथा सुसंगठित युद्धव्यापार में, अपने गृह-द्वार तथा सम्पत्ति की रक्षा करने में दक्ष तथा अप्राकृतिक जीवन में सहज संचार करने वाले, प्रगति के द्योतक विविध व्यसनों से परिचित हो। इतना होने पर भी अधिकांश सूक्तों के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के समाज के आचार-विचार न काल्पनिक ही थे और न ऐसे थे जो केवल दार्शनिक ही कहे जा सकते हों। उस समय का हिन्दू पाञ्चभौतिक शक्ति से सर्वथा प्रभावित था। उसकी ससाध्वस विनीत श्रद्धा के पात्र थे—अग्नि अर्थात् सूर्य एवं सौदामिनी का तेज, इन्द्र देदीप्यमान निरभ्र आकाश, मरुद्गण अर्थात् वायुमण्डल, सविता और उषस् तथा अन्य प्राकृतिक एवं ज्योतिष्मान् तत्त्वों के विविध रूप। वह उनकी स्तुति में प्रवण था परन्तु इस कारण नहीं कि वे किसी परम तत्त्व के प्रतिनिधि हैं अथवा स्वयं ही कोई विशिष्ट तत्त्व हों जिनके द्वारा उसे सृष्टि या अनन्त तत्त्व का रहस्य ज्ञात हो, परन्तु केवल इसी कारण कि वह अपने प्रतिपक्षियों पर विजय पाने के लिये उनसे सहायता चाहता है, उनकी कृपा से पर्जन्य, पशु, खाद्य-पेय, स्वास्थ्यलाभ जैसे अनेक लौकिक प्रेय की आशा रखता है। वह उनके सामने अपनी विपत्तियों का वर्णन करता है तथा उनके अतीत ऊर्जस्वी चरित्रों का स्मरण कराकर मानों सहायता प्रदान करने के लिये उन्हें प्रसन्न करना चाहता है। वह कहता है—'हे मरुत्! हम तुम्हारे पूर्व पराक्रमों को घोषित करते हैं, आप तुरन्त हमारे सम्मुख प्रकट हो हमें अभीप्सित वर प्रदान करने का अनुग्रह करें।' आप स्तुति से प्रसन्न हो 'बलवीर्य को देने वाला अन्न इन्द्र को प्रदान करें, इसी तरह सवितास्वरूपी विष्णु तथा सुयन्त्रित अश्व की भाँति मेघमण्डल के देदीप्यमान पटल पर आरूढ़

हो भ्रमण करने वाले अजेय अश्विनी नामक देवयुगल को भी आप पोषक तत्त्व प्रदान कर अनुगृहीत करें। हे इन्द्र एवं विष्णु ! आप सकल कामना के पूरण करनेवाले हो, आपके परमभक्त आपके दिव्य आगमन की स्तुति करते हैं। आप सदा अपने भक्तों को सद्यःफल प्रदान करते हैं, आप अग्नि द्वारा जगत् पर उपकार करते हैं, कारण अग्निदेव ही अभीप्सित मनोरथ के दाता हैं।'

उस युग का हिन्दू इस स्वर में देवताओं की स्तुति किया करता था। वह उनकी आराधना किसी आध्यात्मिक कल्याण के लिये नहीं परन्तु भौतिक लाभ के लिये करता था। उसके धार्मिक अन्तःकरण की इन प्रेरणाओं में नैतिक विचारों का नितान्त अभाव पाया जाता है। पाप एवं अपुण्य की कल्पना उसे अवश्य थी क्योंकि देवताओं की स्तुति इसीलिये की जाती थी कि वे अपुण्यशील एवं पापियों के विनाशक थे। तथापि यह कहा जा सकता है कि जिस अर्थ में हम पाप एवं अपुण्य की कल्पना करते हैं उसी अर्थ में वे भी समझते थे यह मानना अवश्य प्रमाद होगा। इन सूक्तों में पापी वह कहा गया है जो इन भौतिक शक्ति की पूजा न करता हो अथवा उन देवताओं को आस्तिकों के द्वारा अर्पित बलि देकर प्रीणित न करता हो। ऐसा व्यक्ति शत्रु रूप है, डाकू है, दानव है अथवा 'धार्मिक व्यक्ति' की सीमा को उल्लङ्घन करने वाला अतिचारी है, चाहे वह 'धार्मिक व्यक्ति' घात एवं हिंसा ही क्यों न करे मगर अग्नि एवं इन्द्र आदि की अर्चना कर सदा सन्तुष्ट रहे कि मैं कोई कदाचार नहीं कर सकता हूँ। उसी तरह यह भी हमारी भूल होगी यदि उन लोगों की प्रतिशोध की भावना का हम अपने नैतिक विधानों के

स्तर पर मूल्याङ्कन करें। उस समय के हिन्दूसमाज की अन्तरङ्ग स्थिति पर इस प्रकार आक्षेप के साथ विचार करते हुए भी हमें सूक्तों के अध्ययन से स्पष्ट अवगत होता है कि तत्कालीन समाज में एकता की भावना तथा भ्रातृभाव सर्वोपरि था। एक भी सूक्त ऐसा नहीं है जिसमें आपसी वैमनस्य अथवा गृहकलह की शान्ति के लिये देवताओं से प्रार्थना कभी की हो अथवा कभी सामाजिक दोषों के ह्रास के लिये कोई सहायता माँगी हो। इससे सिद्ध होता है कि उस समय के हिन्दू समाज का नैतिक स्तर तथा परस्पर सङ्गठन उच्चकोटि का था।

यह समझा जा सकता है कि उस समय हिन्दुओं में प्रचलित भौतिक शक्ति के प्रतीक देवताओं की अर्चनाविधि बहुत सीधी-साधी एवं निरपाय थी। ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों में देवताओं के लिए एक ही उपहार था — सोमरस। यह एक मादक आसव हुआ करता था जिसके पान से देवतावृन्द शक्तिशाली हो जाते तथा उनकी अनुग्रह करने की शक्ति विस्फूर्जित होती थी। यह आसव चमसों के द्वारा देवताओं को दिया जाता था अथवा उनके प्रीत्यर्थ कुश पर प्रोक्षण किया जाता था। आज्य भी देवताओं का प्रिय हवि बताया गया है जो अग्निसात् किया जाता था— बस, यही वैदिक अर्चा का प्रारम्भिक प्रकार था। तथापि यह अवश्य कहना होगा कि ऋग्वेद में भी कतिपय सूक्त ऐसे हैं जिनमें प्रतिपादित यागादि की प्रयोगविधि उतनी सीधी-सी नहीं है जैसी हम ऊपर बता चुके हैं। ये विधियाँ कुछ और ही प्रकार की हैं। इन सूक्तों में अभिव्यक्त हृद्गत भावों के सहज उद्गार दार्शनिक भाषा के प्रयोग के लिये अवकाश प्रस्तुत करते हैं। मन्त्रों की अन्योक्तिपूर्ण भाषा विचारग्रस्त मननशील मस्तिष्क

को यौगिक रहस्य की ओर संकेत करती हैं जिससे प्रकृति के रहस्य अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रतीतिगोचर होने लगते हैं, साथ ही साथ भूतप्राणियों का वह वर्ग जो साधारण जनता को आतङ्कित करता है अधिक विस्तीर्ण दीखने लगता है। उदाहरणार्थ—इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं की तुष्टि के साधन स्वयं देवरूप धारण कर लेते हैं— जैसे सोमवल्ली और उसका आसव भी समस्त ऐहिक कामनाओं की पूर्त्ति करने के लिए पर्याप्त समझे जाते हैं। आज्य अथवा सोमरस की आहुति की अपेक्षा कहीं अधिक गूढ़ तत्त्व को लिये हुए पशुबन्ध याग भी मौलिक विधियों में सम्मिलित किये जाते हैं। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल से हम यहाँ कतिपय मन्त्र उद्धृत करते हैं जिससे पूर्ववर्णित सरल प्रयोग-विधियों में तथा इन विधियों में तारतम्य स्फुट हो जायगा। निम्नलिखित अंश में यजमान मेध्य अश्व को सम्बोधित कर उसकी विशेषताओं की इस तरह स्तुति करता है :—

'हे वाजिन्! तुम्हारा ओजस्वी कुल अवश्य ही महान् है—तुम्हारी जाति की प्रथम उत्पत्ति चाहे आकाश से हुई हो, चाहे जल से, तुम हिनहिनाते हो और तुम्हारी गति गरुड़ जैसी है और तुम्हारे अङ्ग हरिण के अङ्ग जैसे हैं। यम के द्वारा प्रदत्त घोड़े पर त्रित ने काठी कसी और सर्वप्रथम इन्द्र ने उसपर सवारी की, और गन्धर्वों ने उसकी लगाम पकड़ी। वसुओं ने सूर्यदेव के लिये घोड़े बनाए। हे वाजिन्! तुम यम हो, आदित्य हो, तुम अपने रहस्यपूर्ण आचरण के लिये त्रित के रूप हो, तुम सोम के सहचारी हो। ऋषियों का कथन है तुम्हारे लिये स्वर्ग में तीन बन्धन हैं।......'

इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा निश्चय ही राष्ट्र की धार्मिक

भावना की भ्रष्टता को प्रकट करती है, परन्तु वह साथ ही साथ एक तथ्य को भी सामने रखती है—वह यह है कि हिन्दुओं की धार्मिक आस्था उस युग में भी भौतिक अथवा प्राकृतिक शक्तियों की पूजा से सन्तुष्ट न थी। इससे यह प्रकट होता है कि अब उन्हें सृष्टि के रहस्य को खोजने की लालसा हो चली थी। इस लालसा के आविर्भाव की सूचना हमें अन्य सूक्तों से मिलती है जो वैदिक युग के दार्शनिक विचारों की पहिली सीढ़ी है। प्राचीनतम वेद से कतिपय मन्त्र हम यहाँ उद्धृत करते हैं जो दार्शनिक वर्ग के सूक्तों से परिचय दें सकेंगे। एक ऋषि का कथन है—

'मैंने मनुष्येश्वर के दर्शन प्राप्त किये हैं, उसके सात पुत्र हैं (सूर्य की सप्तरश्मियाँ) ; वह परम मनोहर एवं दयालु देव है, वही हमारा आराध्य है। उसका मध्यम भ्राता सर्वव्यापी है और उसके एक और तीसरा भाई भी है (वायु और अग्नि जो आदित्य देवता के अनुज हैं)। आज्य ही उसका भोज्य है। वे एकचक्र रथ में सात घोड़े जोतते हैं (अर्थात् सूर्यमण्डल अथवा काल या वर्ष)। एक घोड़ा (सूर्य) सप्ति है जो उसे चलाता है, रथ के चाक में तीन नेमियाँ हैं (दिन जिसके त्रिभाग होते हैं, अथवा वर्ष जिसमें तीन ऋतु होती हैं, वर्षा, शिशिर एवं निदाघ; अथवा काल जिसके भी तीन रूप हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान) वह चाक ध्रुव है, कभी नहीं टूटता। वह कभी खोला नहीं जाता, उसी चक्र का समस्त विश्व अनुसरण करता है।······ आदिपुरुष के जन्म के समय कौन था ? उसकी उत्पत्ति किसने देखी ? वह किन तत्त्वों से बना हुआ है जिस पर यह सारा भौतिक जगत् अवलम्बित है ? पृथ्वीतत्त्व से

प्राणवायु और रक्त प्राप्त होता है, परन्तु कहाँ है आत्मा ? यह प्रश्न पूछने आत्मा के पास कौन जा सकता है ? मेरी बुद्धि अपरिपक्क है, मस्तिष्क सूक्ष्मदर्शी नहीं है, अत एव मैं इन छुपी हुई चीज़ों के बारे में देवताओं से पूछता हूँ। 'वे सात सूत्र कौन से हैं जिन्हें सर्वनियन्ता सविता को आबद्ध करने के लिए ऋषियों ने आसूत्रित किये हैं ?'

अन्य ऋषि की उक्ति है—'न कोई वहाँ सत् था न असत्, न थी दुनिया न आकाश और न कुछ उसके ऊपर। न किसी को किसी की परवाह थी; न किसी के सुख से किसी का सम्बन्ध था, न वहाँ था जल जो गम्भीर हो या भीषण। मृत्यु वहाँ न थी, और न थी अमरता, और न रात या दिन का भेद ही था। परन्तु वह (तत्) बिना उच्छ्वास या प्रेरणा के ही स्वयं श्वास धारण करता था, उसके साथ केवल अपनी स्वधा थी जो उसके अन्तःस्थित है। उसके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु न थी जो आज दीख पड़ रही है।······सही सही किसे पता है, और इस जगत् को कौन आकर कहेगा कि कहाँ से, किस वजह यह सृष्टि पैदा हुई ? देवतावृन्द तो इस जगत् के बाद की रचनाएँ हैं, तो फिर वे भी किस तरह बता सकते हैं कि जगत् का निर्माण क्यों कर हुआ और वह स्वतः आधारित है अथवा नहीं ? केवल वही इस तत्त्व को जानता है जो परमोच्च लोक में विराजमान हो इस अखिल का नियन्त्रण करता है। उसके सिवा और किसी को इसका ज्ञान नहीं।'

पूर्वोक्त उद्धरणों से प्रतीयमान समस्याएँ ज्यों ही हिन्दुओं के मस्तिष्क में उठी होंगी त्यों ही हिन्दू धर्म प्राकृतिक शक्तियों की विशुद्ध पूजा के भाव से सीमित न रहा होगा। इसी कारण

हम आगे यह पाते हैं कि हिन्दू धर्म इस ओर प्रयास कर रहा था कि वह इन प्राकृतिक शक्तियों का किसी एक परम तत्त्व के साथ समन्वय करे अथवा वैदिक संहिता के प्राचीनतम भाग में अङ्कित अपने प्रारम्भिक धर्म की परिधि को छोड़ सृष्टितत्त्व की गवेषणा की ओर आगे बढ़े। प्रथम लक्ष्य को सम्मुख रख किए हुए हिन्दुओं के प्रयास का प्रतिबिम्ब ब्राह्मणग्रन्थों में पाया जाता है, तथा दूसरे लक्ष्य की ओर उनका प्रयास उपनिषद् ग्रन्थों में प्रतिफलित है। वे रहस्यमय साङ्केतिक अन्योक्तियाँ जिन्हें हमने वैदिक सूक्तों के द्वितीय वर्ग में रखी हैं इन ब्राह्मण ग्रन्थों में न केवल विस्तृत स्वरूप धारण कर विकास को ही प्राप्त हुईं अपितु धीरे-धीरे वे क्रमबद्ध रीति से सुरचित बन गयीं। ऋग्वेद के रचयिता ऋषियों द्वारा प्राकृतिक देवों के विषय में दिए हुए विवरण आख्यानों के रूप में ग्रथित हो गये और उन्हें एक ऐतिहासिक कथा का रूप प्राप्त हो गया। सूक्तों में कथित सीधी-साधी प्रारम्भिक अर्चाविधि अब सविशेष कृत्रिम एवं जटिल बन गई। इन आख्यायिकाओं पर आधारित एक अतिविस्तृत अर्चाकल्प तैयार हो गया और धीरे धीरे समाज की अधिक प्रगतिशील स्थिति का सहारा पाकर एक ऐसी नियमित पद्धति के रूप में परिणत हुआ जिसके निर्वाह तथा यथावत् सम्पादन के हेतु पुरोहितों के एक विशिष्ट वर्ग की आवश्यकता प्रादुर्भूत हो गई। कतिपय वैदिक सूक्त निश्चय ही इस ब्राह्मणयुग के आरम्भ से समसामयिक रचनाएँ हैं, कारण ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में ऐसे अनेक ऋत्विजों का उल्लेख है जिनकी आवश्यकता अग्निदेव की अर्चा को सम्पन्न करने के लिए बताई गई है। हाँ, यह अवश्य है कि महायाग के लिए अपेक्षित

षोडश ऋत्विजों के पूरे दल का आविर्भाव ब्राह्मणग्रन्थों तथा परवर्त्ती वेदों की रचना से पूर्व नहीं हुआ था। तत्रापि यह कहना होगा कि ये आख्यायिकाएँ चाहे जैसी उच्छृङ्खल क्यों न हो, चाहे जितनीं प्रकृति की मौलिक शक्तियों की अर्चना से दूर क्यों न हों और यह कर्मकाण्डविधि ऋग्वेदसूक्तों में अविज्ञात वर्ण-व्यवस्था के क्रमिक विकास को प्रकट करने वाली क्यों न हो, वे अवश्य ही प्राचीन भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों की प्रगति के दो पहलू उपस्थित कर देती हैं :—

(१) जहाँ ऋग्वेद के ऋषिगण प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त्तरूपों की प्रतिष्ठा बढ़ाने में प्रधानतः आवर्जित थे वहाँ ब्राह्मण-ग्रन्थों में उनके चारित्रिक गुणों को जनता के द्वारा अनुकरण एवं स्तवन के लिए सम्मुख स्थापित किया गया है। सत्यानृत और पाप-पुण्य की भावना पर देवासुरसंग्राम के वर्णन में अनेकधा बल दिया गया है। प्रयोगों में कई विधियाँ भी ऐसी है जो स्वयं साधु एवं असाधु जीवों के ऐसे ही गुणों के प्रतिरूपक हैं जिनकी प्रशंसा अथवा निन्दा की गई है।

(२) दूसरी प्रवृत्ति जो इन ब्राह्मणग्रन्थों में पायी जाती है वह देवताओं की उच्चावचता को निर्धारित करने की है जिसके फलस्वरूप इतर देवताओं की अपेक्षा किसी एक को प्राधान्य दिया गया है। इसके विपरीत वैदिक संहिताओं में इन्द्र और अग्नि जैसे देवताओं की विशेष स्तुति होने पर भी उनमें कहीं भी किसी भी देवता को परमोच्च स्थान देने की भावना अभिव्यक्त नहीं होती। उदाहरणार्थ — किन्हीं ब्राह्मणों में यदि दिवस्पति इन्द्र को देवाधिपति बताया है तो अन्यत्र सविता की वरिष्ठता प्रकट की गई है। वैदिक सूक्तों में संकेतित पूर्वोक्त महत्त्वपूर्ण

समस्या का वास्तव में कोई उचित समाधान नहीं दिया गया, केवल उसका आभासमात्र दीखता है। ब्राह्मणों में एक प्रश्न उठाया गया है—'इस अनेकरूप जगत् की उत्पत्ति कहाँ से हुई ?' उत्तर है–'एक ईश्वर से, जो अन्य देवों से सर्वोपरि है।' इस प्रश्नोत्तर के पश्चात् ग्रन्थकार सोम तथा पशुबन्ध याग का विवरण अपने मनोनीत देवगत तारतम्य के अनुसार देकर सन्तुष्ट हो जाता है।

यह कहना होगा कि इस जटिल प्रश्न के उत्तर देने का प्रयास निश्चय ही गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले दर्शनों ने किया है जिसे हिन्दू परमादर से देखते हैं — वह ग्रन्थ समुदाय है उपनिषत्। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का उद्देश्य न केवल सृष्टिक्रम को ही समझाने का है, अपितु परमात्मा का स्वरूप तथा परमात्मा एवं जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन भी उनका मुख्य ध्येय है। उपनिषदों में अग्नि, इन्द्र, वायु तथा वैदिक सूक्तों में आराधित देवता केवल प्रतीक हैं जिनके द्वारा परब्रह्म का असली स्वरूप समझने में सहायता प्राप्त होती है और उस क्रम का भी पता लगता है जिस तरह वह परमात्मा लौकिक रूप में व्यक्त होता है। जीवात्मा का असली रूप वही परमात्मा है, जीवात्मा का चरम ध्येय परमात्मा के साथ एकरूप हो जाने का है जिसकी प्राप्ति का साधन यागादि का अनुष्ठान नहीं परन्तु अपने सच्चे स्वरूप को समझकर ब्रह्म-साक्षात्कार है। आगे चल कर विद्वत्सम्प्रदाय का मूलाधार सिद्धान्त केवल ब्रह्मवाद ही होकर रहा, जो यह प्रकट करता है कि इस जगत् में केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत् की सत्ता इतने ही अंश में है कि वह ब्रह्म का ही आविर्भावमात्र है। यह सिद्धान्त उपनिषदों में स्पष्टतया प्रतिपादित है जो भी

इनकी भाषा वैदिक साहित्य के ब्राह्मणभाग की तरह स्थान-स्थान पर संकेतपरक, प्रतीकात्मक होकर कथोपकथन के रूप को अपनाती है। अन्ततः, उपनिषद् ही भारतवर्ष के प्रबुद्ध धर्म की आधारशिला हैं। उपनिषद् कोई स्वयं दर्शन नहीं, परन्तु हिन्दू दर्शनों की महात्रयी में प्रतिपादित सिद्धान्तों के बीज हैं। दर्शनशास्त्रों की भाँति उपनिषद् भी हिन्दू विचारकों के मन की उस प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं जिसमें उन्होंने परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने, और उस परमतत्त्व में आस्था एवं निष्ठा को रखने का प्रयास किया है और साथ ही यह भी बताया है कि उस परमतत्त्व का सार मानवमति के द्वारा आकलित होना दुस्साध्य है।

हिन्दू धर्म का इतिहासयुग भी इसी तरह दो मतों के विकास की ओर सामान्य प्रवृत्ति को व्यक्त करता है जिसका पूर्वरूप अभी हमने आपको वैदिक रचनाओं में उपलब्ध होता दिखाया है। जनसामान्य में वह सम्प्रदाय स्थिर सा हो चला था जिसमें एक केन्द्र को आधार मानकर उसके आसपास अनेक कल्पित देवताओं की परिधि बनाने का प्रयास किया गया था। साथ ही साथ हिन्दुओं के दार्शनिक विचार सांख्य, न्याय तथा वेदान्त दर्शनों में प्रकट किये जा रहे थे। प्रथम कोटि के ग्रन्थों में विष्णु एवं शिव ये दो देवता दिनोंदिन प्रधानता प्राप्त कर रहे थे और ब्रह्मा यत्र-तत्र पितामह के नाते उत्कृष्ट बताये जाने पर भी सम्प्रदायवाद में लुप्त होने लगे थे। क्रमशः ब्रह्मा तो औपनिषदिक परतत्त्व ब्रह्म में तिरोहित से हो गये। रामायण में विष्णु की उत्कृष्टता निर्विवाद है; परन्तु महाभारत में (जो अनेक युगों की रचना है) हिन्दू देवसंघ में परमोत्कृष्ट पद के

लिये विष्णु एवं शिव की घुड़दौड़ स्पष्ट है। इससे पूर्व कि महाभारत की विचारधारा में विष्णुतत्त्व अथवा शिवतत्त्व के विकास के पौर्वापर्य पर विचार किया जाय, संस्कृत भाषा-विज्ञान को इस महाग्रन्थ के विविध पर्वों की रचना का काल-क्रम निश्चित करना होगा। तत्पश्चात् ही हिन्दू धार्मिक उपाख्यानों के आधारभूत कथानकों का अनुक्रम निर्धारित किया जा सकेगा। जो भी हो, यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि इतिहासयुग में विष्णु की प्रधानता की ओर झुकाव अधिक है, साथ ही साथ विविध विरोधी सम्प्रदायों को दबाने की अपेक्षा उन्हें स्थिर बनाने की नीति ने परमोत्कृष्ट पद के लिये शिव के हार्दिक समर्थन के बदले विष्णु की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में मौन अनुमोदन प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ एक आख्यायिका का उल्लेख करते हैं जो इतिहासयुग में देवताओं के उक्त पद-परिवर्तन की भावना को स्पष्ट करती है। वैदिक सूक्तों में देवताओं की अमरता निर्विवाद है, कई साधारण से मूलप्राणी भी शाश्वत बताये गये हैं जो जरा एवं मृत्यु से अतीत हैं। भक्तों द्वारा समर्पित बलि को पाकर उन्हें बल एवं सुख और भी अधिक प्राप्त होता है, उनसे उन्हें स्फूर्ति मिलती है; परन्तु यह कहीं नहीं बताया कि बलि उनके निर्वाह के लिये आवश्यक है, प्रत्युत यह कहा है कि धर्मनिष्ठ यजमान बलि समर्पण कर अपने लिये दीर्घायु अथवा अत्युक्ति के रूप में अमरत्व को स्वयं प्राप्त करता है। यही धारणा समस्त ब्राह्मणग्रन्थों में भी पाई जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में सबसे अर्वाचीन केवल शतपथ ब्राह्मण में ही तथा विशेषतः इतिहासग्रन्थों में हम पाते हैं कि निम्नकोटि के देवता मूलतः मर्त्य होकर बाह्य साधनों के द्वारा

अमरत्व को प्राप्त हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा है' 'यजमान के द्वारा समर्पित सोमरस अथवा आज्य या पशुबलि उन्हें अमर बनाता है।' इतिहासयुग में विष्णु उन्हें अमरत्व को प्रदान करनेवाले रस 'अमृत' को पाने का उपाय बताते हैं और कहते हैं कि अमृतपान के विना उनका अन्त निश्चित है। इतिहासयुग का 'अमृत' अनेक पदार्थों के सम्मिश्रण से बना हुआ एक कल्पित द्रव्य है जिसे यह संज्ञा वैदिक साहित्य में प्रतिपादित मृत्युहर अर्थात् अमृत के सादृश्य सम्बन्ध से उपचारतः प्रदान की गई है। इससे स्पष्ट है कि ऐसे देवता हिन्दूजनता की आस्तिक मनोवृत्ति में जड़ न पकड़ सके। उन्हें हमें प्रातिस्विक देवता न कह कर कवि की प्रतिभा से उद्भावित देवता ही कहना होगा। इसी कारण हम विष्णु एवं शिव जैसे प्रधान देव के सदृश उनकी पूजा अर्चा का उपक्रम कहीं नहीं पाते।

इस युग के दार्शनिक सिद्धान्त उपनिषदों में प्रतिपादित मूलतत्त्वों से आगे नहीं बढ़े परन्तु वे उपनिषदों में दिये हुए उपाख्यानों के प्रपञ्च से अवश्य उन्मुक्त हो चले हैं जिसने उन्हें रहस्यवादी बना रखा था। इसके अतिरिक्त इस युग के दार्शनिक ग्रन्थों ने इस धारणा को कहीं आगे बढाया है कि जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व को प्राणायाम, आसन, व्रतोपवास आदि तपःक्रम के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि योगसाधना की महत्ता पर इस युग में सविशेष बल दिया गया है। उक्त सिद्धान्त को प्रतिपादन करने वाला महान् ग्रन्थ है श्रीमद्भगवद्गीता, जिसे यूरप के विद्वान् प्रमादवश सांख्यशास्त्रपरक रचना मान बैठे थे जब कि प्रसिद्ध भाष्यकार श्रीशङ्कर तथा अन्य टीकाकारों ने निश्चय ही उसे

योगशास्त्र ही बताया है। जीवेश्वर की एकता का वाद निस्सन्देह इस धारणा पर आधारित है कि जीवात्मा अपने बन्धन के हेतुभूत समस्त कल्मष से विमुक्त हो अपने मूल स्वरूप में विलीन हो सकता है। यह विमुक्ति एक ही छोटे से जीवन में होना कठिन है ऐसा जानकर हिन्दू विचारकों ने जन्म-जन्मान्तर की कल्पना की ताकि जीव एक जन्म में अधूरे रहे प्रयास को दूसरे जन्म में जारी रख अन्त में अपने लक्ष्य को सिद्ध करने में समर्थ हो जाय। यह सिद्धान्त पुनर्जन्म-वाद के नाम से प्रसिद्ध है जिसे स्वीकार करना उस दार्शनिक-परम्परा के लिये नितान्त आवश्यक हुआ जिसमें परमात्मा के अनुग्रह के लिये कोई स्थान न हो और जीव-ब्रह्म का स्वरूपतः ऐक्य स्वीकृत किया गया हो। इस सिद्धान्त का पूर्वरूप कतिपय प्राचीन उपनिषदों में अवश्य मिलता है, परन्तु उसका धार्मिक रूप से विकास इतिहासयुग में हुआ जहाँ उसका प्रभाव केवल उपाख्यानों में ही नहीं, अपितु सारी हिन्दूजाति के सामाजिक जीवन पर भी छा गया था।

हिन्दूधर्म का पौराणिकयुग लोकप्रिय सम्प्रदाय की दृष्टि से एक ह्रास का ही युग कहा जा सकता है। इस युग में भी देव-समुदाय वही रहा जो इतिहासयुग में प्रचलित था। इस युग में भी ब्रह्मा, विष्णु, और शिव कल्पित देवताओं में प्रमुख बने रहे। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि इतिहासयुग में इस देववर्ग को परस्पर सामञ्जस्य के साथ रहते बताया है परन्तु पौराणिकयुग में परस्पर विरोध की भावना जाग्रत हुई जिसने इतिहासयुग में आविष्कृत देवत्व की मौलिक भावना को बड़ी ठेस पहुँचाई। ब्रह्मा सामान्यतः लौकिक अर्चा से दूर हट गये

और विष्णु एवं शिव को अपने अपने उच्चकोटि के आराधकों के मन में संघर्ष उत्पन्न करने के लिये स्वतन्त्र बना गये। फल यह हुआ कि पौराणिक सम्प्रदाय के अनुयायियों की दृष्टि से देवत्व का वास्तविक तत्त्व ओझल हो गया। इतिहासयुग में प्रसारित देवचरित्र के उपाख्यान जनता की साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार कुछ उपबृंहित हो गये और कुछ विकृत हो गये। साथ ही साथ वह दिव्य विभूति जो रामायण एवं महाभारत में देवताओं की निजी विशेषता थी; अब दिनोंदिन ऐहिक विषयों से ओत-प्रोत होकर घटनाचक्र के प्रभाव से अंकित हो व्यक्तिगत भावनाओं के अनुरूप बनकर विकृत हो गई। वैदिक विधियों में अन्तर्निहित भावनाएँ पुराण एवं तन्त्रों में लेशमात्र भी नहीं पाई जातीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पौराणिकयुग की रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान अनियन्त्रित कल्पना न तो कवित्व की दृष्टि से ही रोचक और न दार्शनिक दृष्टि से ही किसी तरह उदात्त प्रतीत होती है। तथापि यह कहना होगा कि श्रीमद्भागवत जैसी पुराण अवश्य हैं जो अपवाद हैं। वास्तव में ये रचनाएँ ऐसी हैं जिन्होंने सर्वसाधारण जनता के तथा वेदान्त के उन सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया है जो वास्तव में उस युग से लगाकर आजतक शिष्टमनस्वियों का धर्म रहा है। ये रचनाएँ जनसामान्य में प्रचलित विविध सम्प्रदायानुसारिणी पूजा अर्चा विधि पर किसी तरह आघात नहीं करतीं, कारण चाहे यह उपासना विष्णु की उपासना की तरह सौम्य हो अथवा शिव एवं दुर्गा की उपासना के तरह उग्र हो, केवल सांकेतिक निस्सार विधिमात्र है जिसका हिन्दू शास्त्रों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं — वह तो केवल वैदिक युग के हिन्दू की

प्रतीकोपासना का स्मारकमात्र है। यही पौराणिक धर्म, जिसमें कालक्रमानुसार अनेक विकृतियाँ समावेश कर गईं, आज भी भारतीय जनता का मुख्य धर्म है। तथापि उनकी यह धारणा कि यह वैदिक कर्मकाण्ड तथा वैदिक दर्शन के अननुकूल है निश्चय ही पुनरुद्धार का लक्षण है; कारण, इससे अधिक सुगम एवं सहज और कोई उपाय नहीं जिससे उनकी भ्रान्त धारणाएँ प्राचीन एवं पुनीत भाषा के अध्ययन की ओर पुनःप्रवृत्ति के द्वारा दूर की जा सकें। अपने सर्वप्राचीन एवं परम पवित्र धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन से यह आशा की जा सकती है कि भारत के प्रबुद्ध विद्वान् जनसामान्य को वास्तविक रूप से अवगत करें ताकि प्रचलित भ्रान्तियाँ दूर हो जायें।

इस युग के दार्शनिक सिद्धान्त वे ही हैं जो वेदान्तदर्शन पर आधारित हैं। यही दार्शनिक मत आज के भारतीय विद्वानों में प्रचलित है। उनका यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि परमात्मा एक है जिसमें समस्त रूप से पूर्णता है परन्तु उसका स्वरूप अवाङ्मनसगोचर है, कारण वह निर्गुण है। भौतिक सत्ता अथवा बौद्धिक सत्ता में व्याप्त होने योग्य गुणविशेषों के न होने के कारण ही वह निर्गुण ब्रह्म मानवबोध के लिये दुरूह एवं अगम्य है।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
अ	
अक्खल	११
अगदतन्त्र	८७, ११६
अग्नि	५, १४, १७, १८, १९, २०, २९, ३२, ४४, ४५, ४९, ५०, ५३, ६३, ८८, ९०, ९१, १२७, १३३, १३४, १३६, १३७, १३९, १४०, १४१
अग्निचयन	९०
अग्निषोमीय	९०, ९१
अग्निष्टोम	३२, ९१
अङ्गिरस	१४
अच्छावाक्	८
अजास्वन	१२
अजोगर्त	५२, ५३, ५४
अतिरात्र	३२
अत्यग्निष्टोम	३२
अत्रि	१४, २९, ८८
अथर्व	१, २, ४, ५, ६, ८, १४, ३९, ४०, ४५, ५९, ६६, ७५, ७६, ८०, ८१, ८६, ९४, ९५, ९६, ९७, १०२, १०४, १०५
अथर्वण	८०, ९५

	पृष्ठ संख्या
अथर्वशिरस् उपनिषद्	६७
अथर्वाङ्गिरस	८६
अथर्वाङ्गिरसी	२
अदिति	२१
अद्भुत ब्राह्मण	९२
अद्वैत	१००
अध्यात्मविद्या	१२८
अध्याय	१०८
अध्वर्यु	८, ३७, ४६, ५३, ८१
अनुक्रमणियाँ	७४, ९६
अनुपाद	७३
अनुवाक	९३, ९५
अनुष्टुप्	४४
अन्तरिक्ष	८१
अन्न	६०
अन्नप्राशन	७३
अप	६४
अप्तोर्याम	३२
अभिचार	४९
अभिषेकविधि	४२, ४६
अमरसिंह	११७
अमृत	१४४
अयस्य	५३
अयातयाम	३७
अरणि	३१
अरोरा	२१

	पृष्ठ संख्या
अर्चाकल्प	१३९
अर्थशास्त्र	९७
अर्यमा	२२
अविद्या	६५
अश्वत्थ	४७, ४८
अश्वमेध	३८, ९३
अश्विन	४५
अश्विनीकुमार	२३, २४, ३२, ४७, १३४
अष्टक	१४, ८८
असत्	१२५, १३८
असम्भूति	६५
असुर	१००

आ

आख्यानक	१०३
आख्यायिका	११६, १३९, १४०, १४३
आग्नीध्र	८
आज्य	१३५, १३६, १३७, १४४
आत्मा	६०
आथर्वण	८१, ९४
आदित्य	२१, २३, २४, ४८, १३६ १३७
आपः	२०
आपस्तम्ब	७३, ९३
आप्री	२०
आयुर्वेद	९६
आरण्यक	५८, ५९, ६६
आरुणि उद्दालक	६२
आर्चिक	३३, ३४, ९२

	पृष्ठ संख्या
आर्षेय	५५, ९२
आश्वलायन	८, ७३, ७४
आश्रम उपनिषद्	६६
आसव	३२
आहवनीय	९०, १०५

इ

इक्ष्वाकु	५१
इण्डिया ऑफ़िस	७२
इन्दु	५०, ८८, ९१
इन्द्र	१४, १७, १९, २०, २१, २४, ३२, ४४, ४५, ४६, ४८, ६१, १२७, १३३, १३४, १३६, १४०, १४१
इन्द्रबलि	९१
इलियड	११०

ई

ईशोपनिषद्	६४
ईसामसीह	६९

उ

उक्थ्य	३२
उत्तरग्रन्थ	९२
उत्तरसाम	३४
उद्बुद्धग्रन्थ	१०४
उदशान्ति	४५
उदुम्बर	४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८
उद्गाता	८, ३८, ५३, ८१
उन्नेता	८

	पृष्ठ संख्या
उपनयन	११३
उपनिषद्	५८, ५९, ७८, ९२, १००, १०४, १११, १२७, १२८, १२९, ११४, १४२, १४४, १४५
उपवेद	९६
उपाख्यान	५८, ११२, १४३, १४४, १४५, १४६
उपांशु	७७, १०६
उषः	२१, २३, २४, २९, १३३
उष्णिक्	४४
ऋ	
ऋक्	७७, ८२
ऋक्संहिता	९८
ऋग्वेद	१, २, ४, ५, ६, ८, १०, १२, १४, १७, १८, १९, २४, २८, ३०, ३१, ३४, ४२, ४७, ५६, ६६, ७४, ७६, ७७, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९६, ९७, ९८, १०२, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११३, १२०, १२१, १२४, १२५, १२७, १३२, १३५, १३६, १३९, १४०
ऋचा	८२, १०१, १०६, १०८
ऋत्विज	८१, ८२, १०६, १०७
ऋभु	१६

	पृष्ठ संख्या
ऋषि	७७, ८३, ९६, १०१, ११८, १२५
ए	
एकर्षि	६५
एड्डा	११०
ऐ	
ऐतरेय ब्राह्मण	२, ४२, ४९, ५०, ८९, ९९
ऐतरेयारण्यक	५९, ६६
ऐतिहासिक युग	१३१
ओ	
ओडिसी	११०
ओम् (ॐ)	१८, ६६
क	
कण्डिका	९३, ९४
कण्व	१४
कबन्ध	६२
कर्मन्दिन	१०३
कल्प	६८, ७२, ७३
कल्पसूत्र	६, ३५, ७२, ११३, ११४
काठक	६६
काण्व	५५, ९३
कात्यायन	५९, ६९, ७३, ७४
काप्य	६२
कारणब्रह्म	१००
कीर्त्तिदेवी	४७
कुड्रन	११०
कुश	१३५

	पृष्ठ संख्या
कृष्ण	३८
कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास	४
कृष्ण यजुर्वेद	६, ३५, ३७, ३९, ५४, ५५, ६६, ७३, ७४, ९२, ९३, ९४
केन	६६
कैवल्य उपनिषद्	६७
कोलब्रुक	९७, १२५
कौथुम	९२
कौशिक	७३
कौषीतकी ब्राह्मण	५, ४२, ६६, ८९
ख	
खगोल	७२, ८७, ११६
खेरवृत्त	३१
ग	
गन्धर्व	८९, ९०, १३६, १३६
गर्भाधान	११३
गान्धर्ववेद	९७
गायत्री	४४
गृत्समद	१४, ८८
गृत्स्नमद	२८
गृह्यसूत्र	७३, ७४, ११३, ११४
गोपथ ब्राह्मण	५६, ९६
गोभिल	७३, ७४
गौतम	२८, ६२, ६३
ग्रावस्तुत	८
ग्रीक	२९
घ	
घृत	२०, ३१

	पृष्ठ संख्या
च	
चन्द्रमा	२२, २४, ११८
चमस्	३१, १३५
चरक	९३, ९६
चरकाध्वर्यु	३६
चरणव्यूह	८०, ९६
चान्द्रमस	८७
चारक	५६
चारण	१०७
चूड़ाकरण	७३
चूलिकोपनिषद्	९५
चौल	११३
छ	
छन्दस्	६८, ११६
छन्दोग्रन्थ	९२
छान्दोग्य उपनिषद्	१, ५५, ५९, ६६, ७९, ९२
ज	
जगती	४४
जनक	६१
जमदग्नि	५३
जल	२०, ६३
जातकर्म	७३
जातवेदस्	२९
जाबाल	६६
जैन	१११
जैमिनि	४, ३५
ज्योतिष्टोम	३२, ८१, ९१
ज्यौतिष	६८, ७२

पृष्ठ संख्या

ड

डियोस्क्युरि २४

त

तन्त्र ११९, १३१, १४६
ताण्ड्य ५५
ताराग्रह ७२
तित्तिरी ३६
तुग्र २४
तैत्तिरीय ६, ३५, ३६, ३८, ३९, ५५, ५६, ६६, ६८, ८२, ९३, ९४, ९६
त्रयी ७६, १०५
त्रित १३६
त्रिमूर्त्ति २४, ३९, ११५
त्रिविक्रम २४
४४

द

दर्श पूर्णमास ९३
दशति ३३
दस्र २३
दानस्तुति ३
दायविभाग ८७
दुर्गा १४६
दूर्वा ४३, ४४
देवता ७७, ७८, ९६, ११८, १२७
देवताध्याय ५५, ९२
देवरात ५४
देववाद १२७
दैवत ७१

पृष्ठ संख्या

द्यावापृथिवी १२१, १२३
द्युलोक ६०, ६३
द्यौः १२३, १२७
द्रष्टा ७७
द्राह्यायण ७३

ध

धनुर्विद्या ११६
धनुर्वेद ९७
धर्मशास्त्र २५, ७९
धेनुध्वान १२

न

नप्ता २०
नामकरण ७३
नारद ५१
नारायण ६७
नारायणीय ६६
नासत्य २३, २४
निगम ७१
निघण्टु ७१, ७२
निबेलुङ्गन ११०
निरुक्त १७, ६८, ७०, ७१, ७२, १२७
नीवार ३१
नृसिंहतापनीय उपनिषद् ६७
नेष्टा ८
नैगम ७१
नैघण्टुक ७१
न्यग्रोध ४७, ४८
न्याय १४२

	पृष्ठ संख्या
प	
पङ्क्ति	४४
पञ्चविंश (ब्राह्मण)	५५,५६,७३,९२
पञ्चिकाएँ	८९
पटह	७८
पणि	२०
पतञ्जलि	६२, ६९
पद	८८
परब्रह्मवाद	१२७, १२८
पराशर ऋषि	४
पर्वतमुनि	५१
पवन	५
पवमान्य सूक्त	४१
पाणिनि	५८, ६८, ६९, ७०, १०३, १०४
पारस्कर गृह्यसूत्र	७४, ७९
पिङ्गलनाग	६८
पितृमेध	३८
पुत्रिकाकरण	२५
पुनर्जन्मवाद	१२८
पुराण	११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १३१, १४६
पुरुषमेध	३८, ९३
पुरुषसूक्त	१, ६
पूषन्	४५, ४७, ६५, १२१, १२२, १२३
पूषा	२२, १२२
पृथ्वी	१७, १९, २०, ६३, ८१, १२३, १२७
पैल	४
पोता	८
पौराणिकयुग	१३१, १४५, १४६
प्रजापति	१८, ४५, ५३, ६१, ६५
प्रतिप्रस्थाता	८
प्रतिसर्ग	११७
प्रतिहर्ता	८
प्रपाठक	९३, ९५
प्रश्न	६६
प्रस्तोता	८
प्रातिशाख्य	७०
प्रियङ्गु	४७, ४८
प्रेतराज	१६
प्रेतात्मा	७४
प्रौढ़	५५, ९२
प्लक्ष	४७, ४८
ब	
बल	२०
बलि	२४
बलिविद्या	६२, ६६
बह्वृच	४२
बुद्ध	१११
बृहती	४४
बृहदारण्यक	५९, ६१
बृहस्पति	४४, ४७
बेनफ़ी	६
बौद्धानुयायी	१११
बौधायन	७३
बौधायन गृह्यसूत्र	७४

	पृष्ठ संख्या
ब्रह्म	६६, १४१
ब्रह्मराति	३५
ब्रह्मलोक	८१
ब्रह्मविद्या	९५
ब्रह्मवेद	९५
ब्रह्मा	८, ९, ५३, ८१, ११५, १२८, १४२, १४५
ब्राह्मण	३७, ४६, ६७, ७८, ८९, ९३, १०४, ११५, १४२
ब्राह्मणग्रन्थ	४२, ५९, ७६, ९०, ९२, ९६, ९८, १०८, १११, ११२, ११३, १२०, १२५, १३९, १४०, १४३
ब्राह्मणाच्छंसी	८
भ	
भारद्वाज	१४, ७३, ८८
भाष्य	३२
भिक्षु	१११
भुज्यु	२४
भृगु अङ्गिरस	८६
भैषज्यविज्ञान	९६
म	
मण्डल	८८, १०८
मण्डूक	११
मदिरा	४४, ४८
मद्रदेश	६२
मधु	४३, ४४, ४७
मधुसूदन	८, ८६
मनु	४५, ७४, ११३, ११४, ११६
मनुस्मृति	१, ५, ११७

	पृष्ठ संख्या
मन्त्र	७६, ७८, ८३, ८४, ८५, ९३, ९५, १०४
मन्त्रसंहिता	९८
मन्वन्तर	११८
मरुत्	२०, २१, ३२, १३३
मर्त्यलोक	६०
मशक	७३
महाभारत	२४, ३९, ४२, ११६, १३१, १३२, १४२, १४३, १४६
महेश	३९, ११५, १२८
माण्डूक्य	६६
मातरिश्वन्	६४
माधवसायण	२, ३, ७८
माध्यन्दिन	३९, ५५, ९३
मानव	७३
मित्र	४४, ४७
मुण्डक	६६
मेरु	३६
मैक्सम्यूलर	६, ९, ११, ५५, ७०, ९६
मैत्रायण	६६
मैत्रावरुण	८
म्योर	२९
य	
यजुर्वेद	१, ४, ५, ६, ८, १२, ३४, ३८, ३९, ४५, ४७, ४८, ५४, ७४, ७५, ७६, ७७, ८०, ८१, ८२, ८३, ८५, ८६, ९२, ९६, ९७, १०२, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८

	पृष्ठ संख्या
यजुः	३५, ७७, १०७
यन्त्रविज्ञान	९७
यम	१६, ६५, १३६
यमलोक	६०
यव	३१, ४७
याज्ञवल्क्य	३५, ३६, ३७, ३८, ५५, ६२, ६३, ७४, ११६
यास्क	१७, १९, २१, २२, ६७, ७०, ७१, ७२, १२७
यूप	७८, ९०
यूरप	१०४, १३०, १४४
योगशास्त्र	१४५
योनि	३१
र	
रत्नाकरण्ड	९४
रथ	७८
रसातल	६०
राक्षस	१६, २०, २१, ४०
राजसूय	४३, ८१
राज्याभिषेक	४३
राणायणीय	९१
राममोहन राय	१०४
रामायण	२४, ३९, ४२, १३१, १३२, १४२, १४६
रुद्र	२१, २४, ४८
रोहित	५१, ५२, ५३
ल	
लाट्यायन	७३

	पृष्ठ संख्या
लोकपाल	६०
लोयल	१०९
व	
वंश	९२
वरुण	२२, २३, ४४, ४७, ५१, ५२, ५३
वरुणलोक	६०
वशिष्ठ	१४, ५३, ७९, ८८
वसु	४८, १३६
वाग्देवी	८९, ९०
वाजपेय	३२
वाजसनेय	३९, ५६, ९३, ९६
वाजिन्	३७
वामदेव	१४, ८८
वायु	१७, १८, १९, २१, २४, ४९, ५०, ६३, १२७, १३७, १४१
वायुपुराण	३५
वाराङ्गना	८७
वारि	३१
वास्तुकला	९७
विदेह	६१
विद्या	६५
विद्यारम्भ	७३
विद्युत्	१९, २०, ४९
विधि	७२
विण्डिशमन	३२
विल्सन	११८, १२१
विवाह	११२

पृष्ठ संख्या

विश्वदेव १४, ४४, ६१, ८८
विश्वदेवतासिद्धान्त ४१
विश्वामित्र १४, ५३, ५४, ८८
विष्णु २२, २४, ६१, ६७, ११५, १२८, १३३, १३४, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६
विष्णुपुराण ३५, ११८
वृत्र २०, २१, ६८
वृत्रासुर ९१
वेद १, ९६, ११२, १२०, १३१
वेदव्यास ७९, ११५
वेदसंहिता ७०, १२९
वेदाङ्ग ५६, ६७
वेदान्त ३, १००, १२४, १२७, १२८, १२९, १४२, १४६, १४७
वेधा ५१
वैदिक युग १३१, १४६
वैशम्पायन ४, ३५, ३६, ९२
व्याकरण ६८, ७०, ११६, १३०

श

शङ्कर ५७, १००, १०४, १२४, १४४
शतद्विवसी १०७
शतपथ ब्राह्मण ५, ५४, ५९, ९४, १०३, १४३, १४४
शतरुद्रीय ६७
शब्दशास्त्र ६८
शाकल ८८

पृष्ठ संख्या

शाखल १४
शाखारण्ड ७९
शास्त्रकला ७३
शिक्षा ६८
शिल्पशास्त्र ९७
शिव २४, ३९, ६६, ६७, ६९, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६
शुक ३२
शुक्लयजुः ३५, ३७, ३८, ५४, ६६, ७३, ७४, ८४, ८५, ९२, ९३ ९४
शुनोलाङ्गूल ५२
शुनःपुच्छ ५२
शुनः शेप ५१, ५३, ५४
शैलालिन् १०३
शौनक ७३, ७५, ९५, ९६
श्राद्धसंस्कार ७४
श्री ४१
श्रीमद्भगवद्गीता १४४
श्रीमद्भागवत १४६
श्रुति ५६, ७८, ८६, १०४
श्रौतकर्म ७८
श्रौतसूत्र ९, ७३, ११४
श्वेताश्वेतर ६६

ष

षड्विंश ५५, ५६, ९२
षोडशी ३२

पृष्ठ संख्या

स

संगीत विद्या ९१
संन्यास उपनिषद् ६६
संहिता ३७, ७६, ७८, ९८
संहितोपनिषद ब्राह्मण ९२
सांख्य १४२, १४४
सांख्यायन ४२, ७३, ७४, ८९
सत् १२५, १३८
सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी ७३
समुद्र ८७
सम्भूति ६५
सर्ग ११७
सर्वमेध ३८
सर्वानुक्रमणी ७५, ९६
सविता १८, २२, ४४, ४५, ४७, ५३, १२३, १३३, १४०
साम ७७, ९१, ९२
सामयाचारिक ७३, ७४
सामविधि ५५, ९२
सामवेद १, ४, ५, ६, ८, १२, १४, ३१, ३३, ३४, ३९, ५५, ५९, ६६, ६७, ७५, ७६, ७७, ८०, ८१, ८२, ८४, ८५, ९१, ९२, ९७, ९८, ९९, १०२, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८
सामवेदसूक्त ४७
सामसंग्रह ८२
सामसंहिता ९८

पृष्ठ संख्या

सायण ५, ६, ३५, ५५, ७१, ८२, ९२, १०७
साहित्यशास्त्र ११६
सीमन्त ७३
सुब्रह्मण्य ८
सुमन्तु ४
सुयवस ५२
सुश्रुत ९६
सूक्त २८, ७६, ८८, १०१, १०८
सूत ७८
सूर्य ५, १७, १८, २०, २१, २२, २३, २४, २९, ३६, ३७, ४५, ४९, ५०, ६३, ६५, ११८, १२३, १२७, १३३, १३६
सूर्यदर्शन ७३
सोम ४४, ४५, ४९, ५६, ८८, ८९, ९०, ९१, १४१
सोमयाग १३, ३१, ३२
सोमरस १२, १५, २०, २४, १०६, १३५, १३६, १४४
सोमराजा ८९
सोमवल्ली १४, ३१, ३३, १३६
सौदामिनी १३३
सौरमण्डल ६०, ८७
स्कन्द ६७
स्टीवेन्सन ३१
स्तौभिक ९२
स्मार्तसूत्र ७४
स्यवस्व २९

	पृष्ठ संख्या
स्रुक्	
स्रुवधारक	१०७
स्वधा	१२६, १३८
स्वर्ग	८१
ह	
हरिश्चन्द्र	५१, ५२, ५३

	पृष्ठ संख्या
हारीत	१२
हिन्दू	२५, २८, ८६
होता	८, ३८, ५१, ५३, ८१
होमर	११०
हंस उपनिषद्	६६
ह्विटनी	२०, ३४, ३९, ९४

न वी न सा हि त्य

संस्कृत साहित्य का इतिहास

वाचस्पति गैरोला

संक्षिप्त सं. ८–००, बृहत् सं. २०–००

भारतीय साहित्य की रूपरेखा

डॉ० भोलाशंकर व्यास

७–५०

हिन्दी ध्वन्यालोक

सानुवाद 'लोचन' व्याख्या सहित

प्रथम उद्योत ४–००

संस्कृत साहित्येतिहासः

प्रो० रामचन्द्र मिश्र

४–००

नवसाहसांकचरितम्

अनुवादक : जितेन्द्रचन्द्र भारतीय

१०–००

भासनाटकचक्रम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या

२२–००

विश्वगुणादर्शचम्पूः

सानुवाद 'पदार्थचन्द्रिका' टीका

१०–००

हिन्दी कौटिल्य अर्थशास्त्र

वाचस्पति गैरोला

समूल २०–००, हिन्दीरूपान्तर १०–००

हिन्दी निरुक्त

(१–४, ७ अध्याय)

६–२५

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी–१